श्री इन्द्रलाल जी शास्त्री एवं श्री मक्खनलाल जी शास्त्री
के ट्रेक्टों का करारा उत्तर

हरिजन मन्दिर प्रवेश

(एक अध्ययन)

" अगर शास्त्र में कुछ सत्य है, शास्त्र के सिद्धान्तों में कुछ सत्य है, तो जिस मन्दिर में हरिजनों को जाने का अधिकार नहीं है, उन मन्दिरों में भगवान नहीं हैं, वहां तो सिर्फ पाषाण है ।"

बापू

हरिजन सेवक ता: १५-६-१९५४

लेखक—
विद्यार्थी "नरेन्द्र" जैन
काव्यतीर्थ, साहित्यशास्त्री
स्नातक प्रयाग विश्वविद्यालय,
प्रयाग

प्रथमावृत्ति १०००

मुद्रक—
एन० एल० जैन
चन्द्रकान्ता प्रिंटिंग वर्क्स, जबलपुर ।

प्रकाशकीय वक्तव्य

"जैन मन्दिर और हरिजन" पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य के लेखक हैं श्री सूरजमल जी ब्रह्मचारी महोदय। वक्तव्य में वर्णी जी के पत्र का किस तरह उल्टा अर्थ लगाकर आपने समाज को भड़काना चाहा है उसे हम इसी वक्तव्य म आगे लिख रहे हैं। शिष्ट ब्रह्मचारी के नाते आपने जिन दु:शब्दों के प्रयोग से वर्णी जी पर चोट करनी चाही है उन शब्दों का उल्लेख कर हम आप जैसे नहीं बनना चाहते अतः सारांश मात्र का उल्लेख करते हुए आप से यही कहना चाहते हैं कि समाज के तीतर लड़ाने के लिये जो दाव पेंच खेलना आपने प्रारम्भ किया है वे किसी भी तरह उचित नहीं अपितु समाज को भुलावे में डालने वाले ही हैं। इसलिये हम आपको सावधान करना चाहते हैं कि वर्णी जी की अच्छी प्रतिष्ठा, त्याग युक्त विद्वत्ता और अजैन होने पर भी जैन धर्म की समुज्वल आदर्श – प्रियता से यदि इस तरह जलेंगे तो ब्रह्मचर्य वेष का उपहास ही होगा।

वर्णी जी का हरिजन मन्दिर प्रवेश निर्णय जैसा आप समझते हैं वैसा दूसरों द्वारा दिलाया गया नहीं है, स्वयं की विशाल विद्वत्ता का परिणाम है। दूसरे के बहकावे में आकर 'संजद' पद हटवा देने वाले पूज्य आचार्य श्री में ही बहक जाने की यह विशेषता है, इसे यहीं देखिये। आचार्य महराज के प्रति पूज्य वर्णी जी की अब भी पूर्ण श्रद्धा है उनकी जीवन गाथा

पढ़ देखें तो पता लग जायगा। सैद्धान्तिक मतभेद के माने व्यक्तिगत विद्वेष—(जैसा आपने आचार्य महाराज को पढ़ा रखा है) नहीं होता। आचार्य महाराज लोक, समाज, धर्म और राजनीति में वर्णी जी जैसे ही प्रभावशाली विद्वान होते तो वर्णी जी ने जो अभिमत दिया है वह सब से पहिले आचार्य महाराज देते। मेरा तो विश्वास है यदि वे आप लोगों के हाथ की कठपुतली बनना छोड़ अपने आत्म ज्ञान का ही आश्रय ले तो राष्ट्रीयता के सच्चे पुजारी बने बिना न रहेंगे। वर्णी जी ने एक वर्ष पूर्व जो पत्र लिखा था उसे भी आप न समझ सके ? समझे भी तो उल्टा अर्थ लगा बैठे ! धन्य है इस ब्रह्मचर्य के महत्व से उत्पन्न बुद्धि के वैभव को ! फिर देखिये यह है वह पत्र—

श्री १०८ पूज्य आचार्य महाराज के चरणों मे नमस्कार !

वर्तमान काल में [१]आपके सदृश महानुभाव कल्याण मार्ग का प्रदर्शक अन्य नही, [२]इस समय विषम समस्या हरिजनों के जैन मंदिर प्रवेश की है। [३]आपके ही द्वारा यह निर्णीत हो सकती है अतः मेरी यही नम्र प्रार्थना आपके चरणों मे है जो [४]आगमानुकूल मार्ग दिखा कर इस सकट से जैनियो की रक्षा करिये–[५]समय की परिस्थिति बहुत ही विषम है।

आषाढ़ बदी १० सं० २००६ आ० आ०

गणेश वर्णी

सूरजमल जी ! जब आपके नाम और काम दोनों मे ही मल है तब बुद्धि कहां से निर्मल हो ? इसी भय से पत्र पर ५ नम्बर डालकर प्रत्येक वाक्य की व्याख्या आपको समझाता हूँ। सुनिये—

१—जो केवल पद में ही बड़े हैं उन्हें भी शिष्टाचार के नाते "*आपके सदृश महानुभाव कल्याण मार्ग का प्रदर्शक अन्य नहीं*" लिखकर वर्णी जी ने उन्हें महत्ता दी है। उनके सामने अपने को छोटा बताना वर्णी जी का बड़प्पन है, आत्म समर्पण नहीं।

२–राष्ट्रीयता के समुज्वल प्रकाश में जब वे लोग भी आत्मकल्याण के लिये जैनेन्द्रज्योति के दर्शन कर जन्म जन्मार्जित पाप कलङ्क धोने को उतावले हो आगे बढ़े जा रहे हैं, जिनमें तथा कथित वर्णाभिमानियों के वे व्यक्ति भी शामिल हैं जो पांचों पाप करते हैं तब जनता के सेवक हरिजनों को मन्दिर में जाने से रोकना मूर्खता है, फिर भी धर्म के ठेकेदार साधु, सन्त, मठ मन्दिरों के महन्त एव धर्माचार्य तक उन्हें अछूतपन की चक्की मे पीसकर पीछे फैंक देना चाहते हैं। इसलिये *"इस समय विषम समस्या हरिजनों के जैन मंदिर प्रवेश की है"* वर्णी जी का सकेत कितना सक्षेप, सामयिक और सर्व सुन्दर है!

३–आज का समाज ऐसा रूढ़िभक्त है कि किन्हीं बूढ़ों और वेषधारियों में भले ही अन्य बूढों की तरह, वेषधारियों की तरह श्रद्धापात्रता न भी हो तो भी वह उन्हें बूढ़े वेष के नाम पर मानता ही जाता है! आज के समाचार पत्रो में देखते ही हैं कि अमुक की बहू बेटी को एक बूढ़ा साधु बच्चा होने के वरदान देने के बहाने उड़ा ले गया, अमुक की बेटी का सारा गहना मन्त्र-बल से दूना कर देने के बहाने एक बूढा साधु ले गया। परन्तु जैन समाज के सौभाग्य से आप एक वयोवृद्ध आदर्श सन्त हैं अत. राष्ट्रीयता के अनुसार उपदेश और अभिमत देने से जैनधर्म का प्रचार और प्रभाव दिख सकता है। हरिजनों को आत्म कल्याण का सदा से बन्द दरवाजा सदा को खुल सकता है। इसलिये *'आपके ही द्वारा निर्णीत हो सकती है"* कहकर वर्णी जी ने आचार्य श्री को अपनी शक्ति के दुरुपयोग को रोककर सदुपयोग की प्रबल प्रेरणा दी है।

४–धर्म भीरु भोले भक्त व्यापार में जितने निष्णात हैं उतने स्वाध्याय या शास्त्राध्ययन मे नहीं। यही कारण है कि वे शास्त्रों के एक दो इधर उधर के प्रमाण देने वालों के बहकावे में आकर हरिजनों के मन्दिर प्रवेश निषेध जैसे निद्य कार्य को सत्कार्य समझ बैठे हैं। यहां तक कि अपनी कूटनीति का पंजा आप पर भी पसार रहे हैं। अतः औरों की बात तो ध्यान में रखिये ही, साथ में अपने आपको केवल सत् शास्त्र के सच्चे आगम के अनुसार कहने के लिये

तैयार रखिये। यदि आपने भी वही मार्ग पकड़ा तब बेचारे देहाती गरीब जैनियों को मध्यप्रान्त की तरह अनेक आपत्तियों—विकट संकटों का सामना सब जगह करना पड़ेगा। अस्पृश्य शूद्रों का असहयोग उनके ऊपर संकटों के पहाड़ पटक देगा। जैनागम में अस्पृश्य शूद्रों द्वारा क्षुल्लक के व्रत, आर्यिका के व्रत लेने तथा मन्दिर बनवाने जैसे पवित्र कार्य के किये जाने के अनेक प्रमाण हैं, अतः धर्म और शास्त्र की मर्यादा के साथ राष्ट्रीयता के अनुकूल निर्णय देने से समाज की उदारता की भी मर्यादा बन जायगी। इसलिये *"आगमानुकूल मार्ग दिखाकर इस संकट से जैनियों की रक्षा करिये"* वर्णी जी की चेतावनी सम्मति और विनय पूर्ण सुझाव कितना अच्छा है!

५—खाते पीते जैनियों को दूसरे वैसे ही फूटी आंखों नहीं देखना चाहते। उस पर भी यदि हरिजनों के आत्मकल्याण के घात के लिये विरुद्ध निर्णय दिया गया या इसकी सार्थकता के लिये "जैन हिन्दू नहीं हैं" जैसे अविवेक का सहारा लिया गया, सरकार को परेशान किया गया तो न सरकार साथ देगी, न हिन्दू समाज। अतः कल्पना कीजिये उस काल की, कितना भयंकर होगा! इसलिये *"समय की परिस्थिति बहुत ही विषम है"* कहकर वर्णी जी अपनी दूरदर्शिता से आचार्य महाराज के चरणों में वह संकट टालने के लिये विनय कर रहे हैं, साथ ही अन्तिम बार अपना कर्तव्य पूर्ण कर कितने सुन्दर ढग से बात कर रहे हैं!

ब्रह्मचारी जी! ब्रह्म के अन्तः चारी बनने का यही उपाय है कि ऐसे दुर्विचारों के मल से अपने नाम और काम को मलिन मत कीजिये कि उल्टा अर्थ लगाने की सूझे। वर्णीजी अब भी आचार्य श्री के भक्त हैं। यह तो जैसा आप समझे ये अब भी ठीक है परन्तु उक्त पत्र से हरिजन मन्दिर प्रवेश का निषेध वर्णी जी ने किया हो, सिद्ध नहीं होता। पत्र में जिस बात की आशा आचार्य श्री से उन्होंने की वह आकाश-कुसुम बनी रही तब वर्णी जी को स्वयं वह निर्णय देना पड़ा। निर्णय पढ़कर आप जैसों को आश्चर्य

खेद व भय होना स्वाभाविक ही था। चार बातें और होती तब पूरा पड़ता। आखिर आपकी प्रतिमाएं सात और बातें तीन, कमती ही तो हैं। शायद इसी कमी की पूर्ति के लिये आपने (१) वर्णीजी पर चोट करना, (२) समाज को भड़काना, (३) 'सजद' पद को आगम विच्छेदक न कहकर हरिजन मन्दिर प्रवेश को आगम विच्छेदक कहना, और (४) "मानवत्व के चार पुत्र ब्राह्मणादि हैं" कहकर अपने ऊपर वैदिक वर्ण व्यवस्था की छाप बतलाना यह चार कार्य प्रारम्भ किये हैं। वर्ण व्यवस्था को अनादि बताने आदि के उत्तर में पूज्य प० पन्नालाल जी द्वारा लिखित "जैन समाज के दो आन्दोलन" पढ़कर समाधान कर लीजिये। पहिले शास्त्र स्वाध्याय कर धर्म लोक और समाज को समझिये बाद में नाम कमाने के लिये विवेकपूर्ण कार्य कीजिये तो सब काम बन जायगा।

जबलपुर
विजय दशमी २००७ } —'नीरज'

अपनी बात

ऊँचा उदार पावन, सुख-शान्तिपूर्ण प्यारा।
यह धर्म वृक्ष सब का, निजका नहीं तुम्हारा॥
रोको न तुम किसी को, छाया में बैठने दो।
कुल जाति कोई भी हो, सन्ताप मेटने दो॥

कितना उदार सन्देश है यह हमारे उदार धर्म का ' "यह धर्म वृक्ष सबका निजका नहीं तुम्हारा।" और कितनी प्रबल प्रेरणा है— "कुल जाति कोई भी हो सन्ताप मेटने दो।" परन्तु दुःख और शोक कि हम इन दिव्य संदेशों और प्रबल प्रेरणाओं को भी भूल बैठे। जबकि सूर्य की शक्ति, चंदा की चांदनी, यहां तक कि पेड़ों की छाया भी जब ऊँच नीच का भेदभाव नहीं करती तब मानवों में यह बुराई कहां से आगया कि वे विश्व-बन्धुता के पवित्र सिद्धान्त को भूल बैठे। आज

ही एक ओर आगम की दुहाई दी तो दूसरी ओर उसकी अवहेलना पर भी तुल बैठे। इसलिये हम सुनते हुए भी नहीं सुन रहे हैं।

"णीचो वि होई उच्चो, उच्चो णीचत्तणं पुणउच्चेइ।
जीवाणं खु कुलाइ, पवियस्स व विस्स मंताणं ॥११॥
—भगवती आराधनासार

आचार्य प्रवर शिवकोटि महाराज ने कितना सही कहा कि—"जगत में नीच कहे जाने वाले लोग उच्च भी होते हैं, और उच्च होकर नीच भी हो जाते हैं। इसलिये जाति और कुल को अधिक महत्व देना व्यर्थ है—वह तो एकमात्र पथिक के लिये विश्रामगृह के समान है।" जैसे पथिक एक विश्राम स्थान को त्याग कर दूसरे में और फिर उसे त्याग कर तीसरे-में जा ठहरता है वैसे ही जीव नीच-ऊँच कुलों में परिभ्रमण करता है।

इस दूरदर्शिता का कारण है आचार्यों की दिव्य भव्य दृष्टि जिससे उन्होंने संसार के लोगों को बंधु समझा, और उनको किसी भी दयनीय दशा से उद्धार कर धर्म की उदारता से आत्म कल्याण का सन्देश सुनाया कि "ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये सब आजीविका निर्वाह के लिये बनाई गई क्रियाओं के अनुसार संज्ञामात्र हैं। क्योंकि जैन धर्म जैसी सद्धर्म-ध्वजा की छाया में बैठने के कारण वे सब भाई भाई के समान हैं। मानव-मानव के बीच भेद करने वाली उच्चता और नीचता की जो दो दीवालें खड़ी कर दीं गई हैं वे भले ही आज रूढ़ि धर्म के कारण अभेद्य और अखण्ड दिखें परतु अब राष्ट्रीय युग ही नहीं आचार्यों की दिव्य वाणी पर चलने का भी युग आ गया है इस-लिये वे कल खण्ड-खण्ड हो खण्डहर हो जाने वाली हैं।

आचार्यों के पवित्र सिद्धान्तों की उदारता के प्रचार का श्रेय राष्ट्रीय लोगों को देना तो दूर रहा उल्टा कोसा गया! धर्म की ओट में

"इस्लाम खतरे में" की तरह नारे लगाकर उनके प्रति अभद्रता का व्यवहार प्रदर्शित कर अपनी क्षुद्रता भी दिखाई गई ! जो स्थिति पालक उन्हें "सुधारक" कहते हैं उन्हें हम "बिगाड़क" के सिवा और क्या कहें ?

अषाढ़ सुदी १४ को गजपन्था सिद्ध क्षेत्र पर केशलौंच के समय का जो भाषण आचार्य महाराज द्वारा दिया गया बतलाया जाता है; उसमें कितना फेरफार किया गया यह उन कालाजी के नाम से स्पष्ट होता है जिन्होंने आचार्य श्री के मार्मिक उद्गारों का भी लेखक अपने को लिखकर, ऐसी काली करतूतों को भी अपने "तन" को "सुख" दायक "लाल" समझ तनसुखलाल संज्ञा सार्थक की और यह स्पष्ट कर दिया कि वस्तुतः लेख की भाषा और वाक्य-विन्यास में आचार्य श्री की भाषा और भावों के प्राण जरा भी नहीं हैं ! उनके नाम पर गढ़कर प्रचारित किया है। प्रमाण यह है कि आचार्य महाराज जैसे परमादरणीय व्यक्ति यदि वे सचमुच निष्कषाय हैं तो वे यह दुःशब्द कैसे कहते कि—*"शास्त्र विरुद्ध कथन करने मे उन्हें जरा भी शर्म नही आती ?"* उनकी भाषा भद्रोचित होती !

एक ओर तो आचार्य महाराज शास्त्रीय प्रमाण पूछते हैं, दूसरी ओर उनके भक्त भी शास्त्रीय दुहाई देते हैं । परन्तु जब शास्त्रीय प्रमाण दिये जाते हैं तब न आचार्य महाराज सुनते हैं न उनके भक्त ! अभी हाल में प० मक्खनलालजी ने अपने जैन दर्शन में जो प्रमाण जिस आगम से दिये थे उन्हीं आगमों के प्रमाणों से सम्पादक जैन मित्र ने अङ्क ३५ और ३७ में करारा उत्तर दिया परन्तु न आचार्य श्री पर असर पड़ा और न उनके भक्त पं० मक्खनलालजी ने अपनी हठ ही छोड़ी ! प्रस्तुत पुस्तक में भी यथास्थान उन्हीं आगमों से प्रमाण दिये गये हैं जिन्हें आचार्य श्री और उनके भक्त मान्य समझकर प्रमाण देते हैं, अब मानना न मानना उनके ऊपर है ।

"वह गोबर मङ्गलमय होता है" कहने वाले पं० मक्खनलालजी

जैसे गोबर-पन्थी पण्डितों के दिमाग में जब इस तरह गोबर भक्ति भर गयी है तब सच्चे अर्थ में शास्त्र भक्ति को स्थान पाना कैसे सम्भव हो सकता है ! इसीलिये आपने यह कहते समय तो दिमाग ही ताक पर रख दिया मालूम होता है कि—"*ऐसे आन्दोलनों के चक्र में पूज्य क्षुल्लक और उच्चकोटि के विद्वान वर्णीजी जैसों को रंचमात्र भी भाग नहीं लेना चाहिये।*" अच्छा होता आचार्य श्री को भी यही सम्मति दी होती तो यह अवसर ही क्यों आता ! जब वर्णी जी को ऐसे आन्दोलनों में रंचमात्र भी भाग नहीं लेना चाहिये तब आचार्य श्री का उसमें नेता बनकर बीच में कूदना क्या कोई भी विवेकी ठीक कहेगा ! कभी नहीं।

पं० मक्खनलालजी ने अपने ट्रैक्ट के प्रथम पृष्ठ पर ही समाज को भड़काने के लिये वर्णीजी पर चार आरोप लगाने का जो प्रयत्न किया है वह इस तरह सर्वथा निर्मूल है—

१—जब आगम से ही हरिजन मन्दिर प्रवेश सिद्ध होता है तब उन्होंने आगम के सर्वथा अनुकूल काम किया है। देखिये "हरिजन जैन मन्दिर जा सकते हैं।" इसी पुस्तक का अंश। और जैन मित्र अक ३५, ३७ के सम्पादकीय वक्तव्य में आपके लेख का खरा उत्तर।

२—आचार्य महाराज की प्रतिज्ञा राजनैतिक क्षेत्र में उन्हे ले गई है जो कि उनके पद विरुद्ध है अतः आगमानुकूल नहीं है। और न वर्णीजी ने उसके विरुद्ध कोई प्रचार ही किया है।

३—उनके लेख से सुधारकों को एक सन्मार्ग मिला है। और उन पापी पण्डितों को करारी फटकार जो बहू के साथ पाप और विद्यार्थियों के साथ अनाचार करते हैं।

४—जैन संस्कृति के संरक्षण का प्रयत्न आपका भारत सरकार से

ख्याल होता तो राष्ट्रीय संस्कृति के विरुद्ध मोर्चाबाजी का यह दु:साहस लोग क्यों करते !

शेष जो आपने लिखा है उसे सम्पादकपन प्रदर्शन के लिये ! वर्णीजी के लेख के प्रारम्भिक अंश को देखने पर आपको पता लग जायगा कि उन्होंने कहा था कि—"न तो पक्षपाती बनने की इच्छा है, न विरोधी बनने की परन्तु आत्मा की प्रबल प्रेरणा सदा यही रहती है कि—"जो मन में हो वही वचनों से कहो। यदि नहीं कह सकते तब तुमने अब तक धर्म का मर्म ही नहीं समझा।" इससे वे न हरिजन मन्दिर प्रवेश के समर्थक सिद्ध होते न विरोधी, अपितु आगम वाणी के संरक्षक ही सिद्ध होते हैं।

पुस्तक में लेखनी को मर्यादा न लांघने देने का प्रयत्न किया गया है। पूज्य आचार्य महाराज के प्रति मेरी वैसी ही भक्ति अब भी है जैसी पहिले थी। पुस्तक लिखने का मेरा कोई विचार न था परन्तु आचार्य श्री के भक्तों की अशिष्टता ने मुझे ऐसा करने को बाध्य किया है। अतः यदि कहीं "जैसे को तैसा", बनना पड़ा है तो उसके लिये मैं दोषी नहीं हूं।

प्रगति शील समाज तथा अन्य वर्णी भक्तों ने तार और पत्र देकर मेरी भावना को पुस्तक लिखने के लिये प्रोत्साहन दिया उनका मैं कृतज्ञ हू।

आशा है आचार्य महाराज और उनके भक्त पण्डित इस अकाण्ड ताण्डव को बन्द कराने के लिये अब ऐसा मार्ग ढूढ़ेंगे जिससे राष्ट्रीयता का घात न हो, धार्मिकता का निर्वाह हो। यदि यह हो सका तो मैं अपने इस प्रयत्न को सफल समझूगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग
ता: २०-१०-५०

विद्यार्थी "नरेन्द्र" जैन



राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी

का

शुभ-संदेश

अस्पृश्यता या अछूतपन हिंसा का अति वीभत्स रूप है जो हमारे सामाजिक जीवन में प्रकट हुआ है। हिंदू समाज में वह हजारों साल से चली आ रही है और क्रमोवंश सर्वव्यापी है—उसके हर अंग मे पायी जाती है, इस कारण वह कम निंदनीय नहीं है। क्रूरता की यह एक पक्की शकल है जिसे झूठ-मूठ धार्मिक नियम या रूढि का रुतवा मिल गया है। इस बुराई की जड़ें इतनी गहराई में पहुँच चुकी है, विष इतना व्याप्त हो गया है कि अछूत कहानेवाली जातियाँ भी आपस में एक दूसरे को अछूत मानती हैं, हालांकि ऊंची मानी जाने वाली जातियों (वर्णों) के लिए वे सभी अछूत हैं। पर इस कुप्रथा के कारण कुछ भी हो, वह चाहे जिससे जन्मी हो, जैसाकि गांधी जी ने अनेकबार और बिलकुल ठीक कहा है, 'हिंदू धर्म को अगर जीवित रहना है तो इस बुराई को जड़-मूल से खोदकर फेंक देना होगा।'

भारत के भिन्न-भिन्न भागो मे अस्पृश्यता का एक ही रूप नहीं है, उसके कई दर्जे हैं। अछूत कहानेवाली जातियो को कुछ ऐसे काम या धंधे सौंपे गये हैं जिन्हे ऊंची जाति के हिंदू गंदा-मैला समझते हैं। उनके घर बस्ती के बाहर होते हैं और आम तौर से झोंपड़े या उनसे भी बुरे होते हैं। मन्दिर, स्कूल, पाठशाला, भोजनालय, उपहारगृह आदि में उनका प्रवेश निषिद्ध है। कुए, तालाब से पानी लेने और नाव, लारी आदि पर सबके साथ बैठने की भी उन्हे मनाही है। फलतः वे शिक्षा में पिछड़े हुए हैं, बेहद गरीब हैं और अधिकांश के पास खेती के लिए अपनी जमीन भी नहीं है।

इन लोगों को जिन कठिनाइयो, बाधाओं का सामना करना पड़ता हैं उनकी सच्ची तस्वीर यहां दे देना जरूरी है, जिससे कार्यकर्ताओं को मालूम हो जाय कि हिंदू समाज पर लगी इस भयानक कालिमा को धोने के लिए जो उपाय बताये जा रहे हैं वे कितने जरूरी और महत्व के हैं।

अस्पृश्यता के दर्जे

१—देश के कुछ भागों मे स्नान के बाद भोजन करते या देव-दर्शन के लिए जाते समय हरिजन पर निगाह पड़ जाने से ही सवर्ण हिंदू अपवित्र हो जाता है। कभी कभी अभागे हरिजन को जोर से पुकारकर लोगों को अपने आगमन की सूचना देनी पड़ती है, जैसा कि पुराने समय में सुनता हूं, कोढ़ियों को करना पड़ता था।

२—मंदिर में जाकर देवता के दर्शन करने की मनाही तो उसे है ही, कुछ स्थानों में वह मंदिर के पास की सड़क पर भी नहीं चल सकता, न उन तीर्थरूप नदियों, कुंडों, तालाबों में नहा सकता है जिनमें सवर्ण हिंदू स्नान करते हैं। वह शास्त्र नहीं पढ़ सकता। और जातियों की पुरोहिती करनेवाला ब्राह्मण हरिजन की पुरोहिती नहीं करता, जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के अवसरों पर उसके घर जाकर संस्कार नहीं कराता।

कुछ काम के सुझाव

१—जन्म, धंधे या पेशे के कारण कोई ऊंचा या नीचा हो सकता है इस भाव को मन से निकाल देना होगा। अछूत के साथ एकही बेंच, खाट या दरी कम्बल पर बैठने से परहेज न होना चाहिये।

२—जिन कुओं से वे पानी भरते, जिन तालाब और नदीमें स्नान करते हों उनसे हरिजनों को भी पानी लेने और नहाने-धोने दें। स्कूल पाठशालाओं के अध्यापकों, अधिकारियों और सवर्ण बालकों के संरक्षकों से विनती करें कि हरिजन बालकों को अपने लड़कों के साथ पढ़ने दें।

३—उनके मनमें यह बात बैठा देनी होगी कि उनका धंधा सफाई का काम-मानजनक कार्य है, उसे छोटा, नीचा नहीं मानना चाहिये। उन्हें साफ सुथरा रहना सिखाना और उसका लाभ तथा आवश्यकता बतानी होगी।

४—शराबखोरी और जुआ खेलने की बुराई हरिजनों में आमतौर

से फैल रही है, इन विषयों में भी उनमें सुधार का काम करने के लिए काफी बड़ा मैदान है।

५—हरिजनों के लिए अक्सर अलग कुएं, मदरसे, छात्रावास और मन्दिर तक बनवादेने का यत्न किया जाता है। इससे उनकी भलाई करने के बदले हम उन्हें सदा के लिए हमसे जुदा कर देने का उपाय करते हैं। अतः साधारणतः ऐसे यत्नों को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए।

६—हमने अब तक उनकी उपेक्षा ही की है। उन्हें साक्षर बनाने और सब तरह से ऊपर उठाने का काम होना बहुत जरूरी है। यह काम बड़े पैमाने पर करना होगा।

भगवान महावीर और गौतम बुद्ध के लगभग २५०० वर्ष बाद एक और महात्मा इस देश में आया जिसने उन्हीं सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर चलकर मरी हुई हड्डियों में जान फूंकी और हमें इस लायक बनाया कि जिससे हम संसार के अन्य लोगों की तरफ गर्व से मस्तक ऊंचा करके देख सकते हैं।

अहिंसा जैन धर्म का सबसे मुख्य आधार होने के कारण जैन समाज पर इस समय, जबकि वह कसौटी पर कसा जा रहा है औरों से भी अधिक जिम्मेवारी है। उन्हें अपने जीवन और कर्म से महात्मा गाँधी के इन सिद्धांतों को और भी दृढ बनाते रहना चाहिये। यदि हम सब जगह अपने को एक राष्ट्र के सदस्य मानकर मिलने लगें तो निःसन्देह हमारे देश का काम बहुत तेजी से चलेगा। हमारा इतिहास यह बताता है कि ज्यों-ज्यों हम अलग-अलग टुकड़ों में बंटते गये और हममें अनेक प्रकार के भेद विभेद पैदा होते गये, त्यों-त्यों हमारे देश की नाव डूबती चली गई। कम से कम राष्ट्रीय कामों के लिये तो हमें इन भेदों को भूलना चाहिये।

जैन धर्म जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, उनकी आज सारे संसार को जरूरत है। जैन धर्म मे तो प्राणीमात्र के साथ प्रेम करने की बात है। यदि प्राणीमात्र के साथ नही तो कम से कम मनुष्य मात्र के साथ तो होना ही चाहिये, परन्तु वह भी आज हममें नहीं है। उसे कायम करने में आप लोग सहायक होंगे, मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है।

बापू ने कहा था



अस्पृश्यता यानी छुआछूत। यह चीज जहां-तहां धर्म में, धर्मके नाम या बहाने से विघ्न डालती है और धर्म को कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नहीं। भंगी, चमार अछूत माने जाते हैं, पर अछूत नहीं हैं। भंगी चमार आदि नाम ही तिरस्कार सूचक हो गये है और वह जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मनों साबुन बरसो तक शरीर पर घिसा हो, चाहे वैष्णव का-सा भेस रखता हो, माला—कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीता पाठ करता हो और लेखक का पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाश के योग्य है। अस्पृश्यता—छुआछूत हिंदू-धर्म का अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिंदू का धर्म है, उसका परम कर्तव्य है। यह छुआछूत विधर्मियों के प्रति आई है, अन्य संम्प्रदायों के प्रति आई है, एक ही संप्रदाय वालों के बीच भी घुस गई है और यहां तक कि कुछ लोग तो छुआछूत का पालन करते-करते पृथ्वी पर भार रूप हो गए हैं। अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ है समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण अहिंसा का जोड़ा बन जाता है और वास्तव मे है भी। अहिसा के मानी हैं जीवमात्र के प्रति पूर्ण प्रेम।

अस्पृश्यता-निवारण का भी यही अर्थ है। जीवमात्रके साथ का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण है। हिंदू धर्म मे उसने धर्म का स्थान ले लिया है और धर्म के बहाने लाखो या करोडो मनुष्यो की स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

मगल प्रभात ता: ६-६-१६३०

मन्दिरो मे अभी हरिजन नहीं जा सकते यह तो वही बात हुई कि कोई पिता अपने बच्चों से कहे कि—"मैं तुम्हे खाना देता हूं, कपडे देता हूं, मकान देता हूं, पर मैं तुम्हें अपने हृदय मे स्थान न दूगा।" कल्पना कीजिये उन बच्चो को कैसा लगेगा? जब तक आप हरिजनो को अपनी ही तरह मन्दिरो मे जाने का अधिकार नही दे देते तब तक आप नहीं कह सकते कि हमारे हृदय सुन्दर है।

हरिजन सेवक ता ६-३-१६३४

अस्पृश्यता एक सहस्रमुखी दानवी है। समाज के प्रत्येक अङ्ग को यह अपना गुरु बना रही है। इसलिये आज हम सब एक दूसरे के लिये अस्पृश्य बन गये हैं।

हरिजन सेवक ता. १६-३-१६३४

अस्पृश्यता एक अन्ध विश्वास है, एक प्रकार की आत्म प्रवंचना है, धर्म एव सदाचार की दृष्टि से यह एक घृणित धारणा है। सच्चे अस्पृश्य तो दिल मे बैठे हुए यह अशुद्ध विचार हैं, ये दुर्भावनाए हैं—यह असत्य, यह लोभ, यह कपट ही वास्तविक अस्पृश्य है।

हरिजन सेवक ता ४-५-१६३४

भगवान को हम पतित पावन कहते है, दरिद्रनारायण कहते हैं, दयानिधि कहते हैं, करुणासागर कहते हैं। भगवान के ऐसे हजारों विशेषण हैं। जिनसे हम सिद्ध कर सकते है कि भगवान किसी एक खास कौम के नहीं हैं—न ब्राह्मण के, न क्षत्रिय के किन्तु सब के हैं।

हरिजन मंदिर प्रवेश

(एक अध्ययन)

पूज्य आचार्य शांतिसागर जी महाराज एवं पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज जन समाज के धार्मिक सन्त हैं। अन्तर इतना है कि आचार्य श्री वयोवृद्ध पुराने विचार-वृद्ध हैं तो वर्णीजी आगम वृद्ध, समाज, राज और लोकनीति विषयक अनुभव वृद्ध हैं। इसलिये जहां आचार्य श्री रूढ़िधर्म की रक्षा धर्मरक्षा के लिये करते हैं वहां वर्णीजी धर्म, राज, समाज और लोकनीति के साथ व्यवहार रक्षा के लिये अपने विवेक बुद्धि और साहस की प्रधानता से राष्ट्रीयता की भी वैसी ही रक्षा करते हैं। इसका तात्पर्य पाठक यह न समझें कि मैं किसी सन्त को बड़ा और किसी को छोटा बताना चाहता हूं। आचार्य श्री भला आचार्य हैं उनपर हम जैसे लोग लिख ही क्या सकते हैं? जो लिखें वह थोड़ा ही होगा। परन्तु यह अवश्य है कि आचार्य श्री को आज के राष्ट्रीय वातावरण के अनुसार ही निर्णय देना था। हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल का विरोधकर समाज के शान्त वातावरण में अशान्ति नहीं फैलानी थी। मेरा जहां तक विश्वास है आचार्य महाराज के नाम का दुरुपयोग कर लोगों ने अपना स्वार्थ साधना चाहा है, वह किस तरह ? यह आगे बताया जायगा।

इस आन्दोलन से राष्ट्रीय सरकार जैनियों को असहयोगी समझने लगी है, क्योंकि हरिजन उद्धार जो राज्य का एक आवश्यक करणीय कार्य था उसी में यह बाधा समझी गई।

आन्दोलन का सूत्रपात

आज से दो वर्ष पूर्व जब से (१६४७ ई०) बम्बई सरकार ने हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून स्वीकृत किया और १६४८ में उपस्थित किये गये संशोधनों को देखकर उसका संशोधित रूप भी स्वीकार किया तभी से पूज्यवर आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने केवल हरिजनों के जैन मन्दिर प्रवेश निषेध जैसे राष्ट्रीयता घातक प्रयत्न की सिद्धि के लिये ता० ४-८-१६४८ से अन्न त्याग कर दिया ! कुशल यह रही कि दूध की रबड़ी, मलाई, और फलों का रस लेने की छूट रखी ! परन्तु उनके चुस्त चालाक भक्तों ने समाज के भोले भक्तों को बहकाने के लिये नारे लगाना प्रारम्भ किया "आचार्य श्री का अन्न त्याग ! जैनधर्म और साधु संकट में !! जिस तरह मियाँ जिन्ना की आवाज "इस्लाम खतरे में" के ऊपर धर्मांध मुसलमानों ने अपने हथियार सम्हालते कुछ भी नहीं सोचा उसी तरह आचार्यश्री के भक्तों द्वारा लगाये गये थोथे नारों के आवेग में आकर कुछ अन्ध श्रद्धालु आचार्य-भक्तों ने भी भड़कावे में आकर अपने हथियार—तार चिट्ठी सम्हाले, सरकार को ऐसे विकट समय में सहायता न देकर धार्मिकता की ओट में शासन में एक बड़ा भारी सङ्कट उपस्थित कर दिया। आचार्य श्री ने अपनी इस महा मान्यता को देखकर बिना विचारे तुरन्त तीन काम कर डाले, अपने मनमाने मत दे दिये—

१—हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल जन मन्दिरों पर लागू न किया जाय !

२—जैनहिन्दुओं से अलग हैं !!

३—षट्खण्डागम धवल सिद्धान्त के ६३ वें सूत्र से "संजद" पद अलग कर दिया जाय !!! जैनधर्म से जलने वाले पहले कहा करते थे कि "हस्तिनाताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्" (हाथी के पैर तले दबकर मर जाना अच्छा है परन्तु जैन मन्दिर जाना अच्छा नहीं) आचार्य श्री के

हरिजन मंदिर प्रवेश निषेध की इस भावना ने अजैनों की वह कुकल्पना मजबूत कर दी ! जैन धर्म की उदारता पोषक सिद्धान्त सत्ता की महत्ता का कुछ भी विचार न करते हुए भी अपना यह पहला मत दिया ।

"जैन हिन्दुओं से अलग हैं" के अविचारित रम्य विचार को भी प्रश्रय देकर आर्य जाति के अङ्ग भङ्ग की कुचेष्टा भी की। आचार्य श्री के अनशन के हथियार से डर कर विचारी विद्वत्परिषद को भी अपने शोलापुर अधिवेशन में विवश होकर ऐसे दुर्विचारों का समर्थन करना पड़ा, जैन पत्रों को उनका साथ देना पड़ा। अस्तु इस तरह आचार्य श्री को कलियुगी नेता बनने का श्रेय तो मिल गया पर जैन धर्म और जैन समाज पर क्या बीतेगी इसका कुछ भी ध्यान नहीं रखा, अपना दूसरा मत दे दिया।

जैन आगम की रचना जिस आचार्य ने नहीं की, वे आचार्य षट्खण्डागम जैसे पवित्र सर्वमान्य जैनागम के ९३ वें सूत्र से "संजद" पद निकालकर आगम विच्छेद का दु.साहस करें यह आश्चर्य की बात है। कुछ भी हो; कलिकाल सर्वज्ञ बनने का यह सौभाग्य दुराशा मात्र ही तो है। जिसके लिये आचार्य महाराज ने अपना तीसरा मत दिया।

पहले दो प्रश्नों के दुष्परिणाम स्वरूप जैनधर्म और मध्यप्रान्त की जैन समाज पर आपत्ति का आतङ्क आ गया। प्रान्तीय सरकार का अनुभव भले ही वह गलत क्यों न हो, वहां की जनता द्वारा सक्रिय होने लगा। जिन अनिष्टों की आशङ्का की जाती थी, एक एक कर सामने आने लगी ! जैन समाज के मध्यप्रांतीय केन्द्र जबलपुर और सागर में जैन समाज विरोधी परचे वितरण होने लगे, देहातों में प्रचार होने लगा। जैनियों से असहयोग होने लगा। एक परचे की नकल यहाँ दे रहा हू जिसकी लाखों प्रतियों के वितरण से जैन अजैन जनता में वैमनस्य और विद्रोह साकार हो उठे। परचा यह है—

क्या १३ लाख जैनी हिन्दू धर्म से प्रथक हैं ?

यदि हैं तो हिन्दुओं को अब क्या करना चाहिये !

भारत में १३ लाख के लगभग जैनी हैं। यह लोग हिन्दू पर्व को मानते, चोटी रखते, और जनेऊ भी धारण कर लेते हैं, इनके नाम भी हिन्दुओं के समान हैं। इनका वेष भी हिन्दुओं जैसा है। यह लोग मुर्दोंको जलाते, संस्कृत पढते और अपने को वैश्यवर्ण मानते हैं। इनमें गुण, कर्म स्वभाव के अनुसार वर्ण व्यवस्था है। मास रहित भोजन खाते, जीव रक्षा करना परम धर्म समझते हैं। अतः यह १३ लाख हिन्दुओं मे किसी प्रकार भी जुदा नहीं हो सकते। सरकार भी नहीं चाहती कि इनको हिन्दुओं से प्रथक गिना जावे, परन्तु शोक ! 'इस घर को आग लग गई घर के ही दीप से' आचार्य शांतिसागर जी ने जेनिओं को हिन्दुओं से प्रथक करने की चेष्टा की है। नई दिल्ली ८ फरवरी, जैन समाज के धर्म गुरु आचार्य शांति सागरजी महराज ने आज भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के पास ६ पृष्ठ का एक स्मरण पत्र भेजा है। जिसमे इतिहासादि से प्रमाणों को देकर सिद्ध किया है कि जन धर्म सबसे प्राचीन, और हिन्दू धर्म से भिन्न है और निवेदन किया है कि देश के विधान में सुधार किया जावे कि जेनियों को हिन्दुओं स प्रथक रखा जाय। यदि जैनियो को हिदुओं में मिला दिया गया, तो जैन धर्म खतरे में पड़ जायेगा। स्मरण पत्र मे यह भी निवेदन किया है कि सन् १९४७ के बम्बई सरकार के हरिजन, मंदिर प्रवेश बिल में भी सुधार किया जाय, और जैन मंदिरों पर यह कानून लागू नहीं हो। इसी प्रकार भीख मांगने वालों के कानून का प्रयोग जैन मुनियों पर न होना चाहिये। बम्बई धारा सभा मे जो चेरिटेबिल ऐंड ट्रस्टेबिल चल रहा है, उसका प्रयोग ट्रस्टों पर न हो।

भविष्य वाणी—यदि जैनी हिंदुओं से प्रथक हो गये तो—

१—हरिजन तक जैनियों से घृणा करेंगे

२—हिंदू लोग जैनियों से कपड़ा, दूध, मिठाई और अन्य वस्तुओं का लेना पाप (अधर्म) समझेंगे।

३—कहार, नाई, धोबी आदि भी जैनियों के कार्यों को नहीं करेंगे।

४—जैन गुरुकुलो में जो हिंदू बालक पढ रहे हैं वह छोड़कर चले जायेंगे।

५—हिंदुओं के श्मशान (मर्घट) पर भी जैनियों के लिये रोक टोक आरम्भ हो जायेगी।

६—जो बड़ी श्रेणी के ओसवाल जैनो और वैश्यों से जो संबंध हो रहा है वह टूट जाय ।

७—जैनियों पर यदि आपत्ति आई तो कोई हिंदू सहायक नहीं होगा।

८—चुनावों में हिंदू लोग जैनियों को सम्मति (वोट) नहीं देंगे ।

९—जैन आर्य संघर्ष में जिन ब्राह्मणों ने जैनियों को सहायता दी थी, वह आगे को मिलनी कठिन हो जायेगी।

१०—हिंदू नौकर का मिलना, जल्सों में सहयोग देना हिंदुओं की ओर से बंद हो जायगा, और सर्वदा कष्ट भोगना होगा।

हमारी सम्मति—यही है कि सागर के जैनी घोषित कर दें कि हम हिंदुओं से प्रथक नहीं हैं और यह भी प्रकट कर दें कि हमारा और हिंदुओं का रक्त एक है। इसके अतिरिक्त हिंदुओं का भी धर्म है, कि वह जैनियों को अपने से प्रथक न होने दे। *जैनियो को चाहिये कि वह हरिजनों के लिये मंदिर जाने को एक ओर से मार्ग बना दें। इसी में कल्याण है।*

दीनदयाल मिश्र

खुशीपुरा, सागर

इस परचे में जो भविष्यवाणी की गई है—उसका रूप यहां तक पहुंच गया है कि कुओं में जोवानी डालना तक दुष्वार हो गया है ! सागर प्रान्त में दाह संस्कार और विवाह संस्कारों में आपत्ति उपस्थित की गई। न हिन्दू श्मशान पर जैन मुर्दे जलाने दिये गये, न विवाह में बसोरों ने बाजे बजाये। यही नहीं "वहां वैदिक मन्दिरों पर ऐसी तख्ती टाँगी जाने लगी हैं जिसमें यह लिखा है कि—" इस मन्दिर मे जैन और मुसलमानों का प्रवेश निषिद्ध है ! वहा के सार्वजनिक हिन्दू ट्रस्टों के लाभ से जैनियों को वञ्चित किया जाने लगा है।" ····सार्वजनिक पत्रों के देखने से यह भी मालूम होता है—कि मध्यप्रान्त की सरकार ने हिन्दू मन्दिरों के लिये कुछ नियम बनाये हैं, उनमें एक नियम यह भी है कि अहिन्दू न तो हिन्दू मन्दिरों में जा सकेंगे और न हिंदू मदिरों से लगे हुये तालाब या कुओं पर स्नान कर सकेंगे न उसका पानी ही भर सकेंगे। (ज्ञानोदय अंक ५ पृ० ३६७) इस परिस्थिति से मध्यप्रान्त के जैनों को अछूतों से भी बदतर बनाने का श्रेय आचार्य श्री की भयंकर भूलों को ही है।

आचार्य श्री की तीनों भूलों पर विचार करने के लिये पाठकों के समक्ष ऐतिहासिक सैद्धान्तिक और लौकिक प्रमाण इस पुस्तक में उपस्थित हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि—

१—हरिजन जैन मन्दिर जा सकते हैं।

२—जैन हिन्दू ही है

३—षट्खण्डागम के ६३ वें सूत्र से "संजद" पद को काटना आगम विच्छेद करना है।

卐

हरिजन जैन मन्दिर में जा सकते हैं

जिन हरिजनों के उद्धार के लिये विश्ववन्द्य बापू ने अपना जीवन दान दिया उन्हींके आत्म कल्याण को रोकने के लिये आचार्य श्री जैसे व्यक्ति ने—"हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल जैन मन्दिरों पर लागू न किया जाय" का नारा लगाया। जब बाजी हारती दिखी तब आचार्य श्री की सह पाकर उनके भक्तों ने प्रात. स्मरणीय पूज्य वर्णीजी जैसे महामना सन्त को भी उल्टा सीधा कहना, लिखना प्रारम्भ किया। अभी हाल में प्रकाशित पुस्तक—"*जैन मन्दिर और हरिजन*" में तो आचार्य भक्त बनने के दावेदार सभ्यता के पुजारी इन्द्रलालजी शास्त्री ने अपना वह भद्रवेष दिखाया है जिसे देखकर (उनकी दृष्टि में गया बीता) हरिजन को उनसे कहीं अधिक भला कहा जा सकता है। आचार्य श्री के सामने ही जब यह असभ्यता का प्रदर्शन हो रहा है तब वर्णी भक्त कहां तक विष को अमृत से शान्त करने का प्रयत्न करें! सर्प के काटे स्थान को दहकते अगार से जला डालने की रूप रेखा तयार करने का अवसर ढूंढना ही पड़ता है। अस्तु मैं आचार्य श्री से पूछना चाहता हूं कि जब आप आपके सहकारी विद्वान घोषणा करते हैं कि—"जैन धर्म एक पवित्र और उदार धर्म है बिना किसी जाति या भेद भाव के सभी को जैन धर्म मानने का अधिकार है" तब क्यों ऐसे नारे लगाकर हरिजनों का धर्म सेवन से वंचित करने के लिये धर्म के ठेकेदार बनते हैं? कहाँ हैं भगवान महावीर की वे शिक्षाएं जिनमें विश्व बन्धुत्व की भावना भरी रहती है? एक ओर जैन धर्म के प्रचार का ढोंग और दूसरी ओर दूसरों को जैन धर्म से वंचित रखने वाले यह कानून, न आचार्य पदारूढ को शोभा की वस्तु है, न मन वचन काय की सरलता के प्रतीक हैं।

आश्चर्य यह है जहा श्रद्धेय स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी एवं स्व०

बैरिस्टर चम्पतरायजी के पथानुगामी प्रधान शिष्य बाबू कामताप्रसादजी अलीगंज (एटा) यूरोप के म्लेच्छ कहलाने वाले अंग्रेजों को जैन धर्म में दीक्षित कर उनके लिये यूरोप में भी जैन मन्दिर बनवाने की योजना सक्रिय कर रहे हैं वहां हमारे पूज्य आचार्य श्री और उनके दुराग्रही भक्त भारतीय आर्य हरिजनों को भी मन्दिर बन्द करने का प्रस्ताव कर रहे हैं! धर्म प्रचारक स्कीम को फटी बांसुरी का बेसुरा राग बना देने पर ही तुले हैं।

हरिजन मंदिर प्रवेश शास्त्र सम्मत है—

पूज्यपाद आचार्य श्री! आपका अनशन प्रारम्भ होते ही आपके अन्धश्रद्धालु भक्तों और जैन समाज के कुछ तथाकथित पत्रकारों ने हो-हुल्लड़ मचाना प्रारम्भ किया, विद्वत्परिषद् जैसी संस्था को भी 'हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल जैन मन्दिरों पर लागू न किया जाय' का प्रस्ताव पास कर अपनी भक्ति प्रदर्शन के लिये बाध्य किया; किन्तु जैन धर्म के उदार सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाले आप, आपके पत्र और जैन विद्वान आज तक आगम प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं कर सके कि आखिर हरिजनों का जैन मन्दिर प्रवेश किस बूते पर निषिद्ध है।

शास्त्रीय प्रमाणों से भी जब यह सिद्ध है कि जैन धर्म एक पवित्र और उदार धर्म है। बिना किसी जातिभेद या व्यक्ति भेदभाव के मनुष्य, देव, पशु-पक्षी तक जिनमें गधे और शूकर जैसे पशु और गीध जैसे पक्षी सम्मलित हैं, सभी को जैन धर्म मानने का अधिकार है तब क्यों हरिजनों को धर्म सेवन से वंचित करने के लिए आप ऐसे काले कानूनों की रचना पर तुले हैं!

> 'न जाति गर्हिता काचिद्,
> गुणाः कल्याणकारणम् ।
> व्रतस्थ मपि चाण्डालं,
> तं देवाः ब्राह्मणं विदुः ॥
>
> (आचार्य रविषेण)

कोई भी जाति गर्हित नहीं है, गुण ही कल्याण के कारण हैं। व्रतसे युक्त होने पर एक चाण्डाल को भी ब्राह्मण कहते हैं इस कथन से क्या यह सिद्ध नहीं है कि देवदर्शन व्रत लेनेवाला हरिजन ब्राह्मणों की तरह जैन मन्दिर में जा सकता है ?

'मनो वाक्काय धर्माय,
मता: सर्वेऽपि जन्तवः।'

(आचार्य सोमदेव)

'मन वचन काय से किये जानेवाले धर्म का अनुष्ठान सभी जीव कर सकते हैं।' इससे स्पष्ट है कि जैसा मन वचन काय जैन धर्मानुयायियों का है वैसा ही हरिजनों का। यदि ऐसा न होता तो कैसे चाण्डाल सम्यग्दर्शन धारण कर सकते ? और कैसे यमपाल जैसे पतित अपने मन वचन काय की शुद्ध दृढ़ता से सद्गति के पात्र भी हो सकते ?

'महा पाप प्रकर्ताऽपि, प्राणश्री जैन धर्मतः।'
भवेत् त्रैलोक्य सम्पूज्यो, धर्मात्किं पर भो शुभम्॥'

जब 'घोर पाप करनेवाले प्राणी भी जैन धर्म धारण करने से त्रैलोक्यपूज्य हो जाते हैं।' तब क्या हरिजनों ने ऐसे पाप किये हैं जो कभी कालान्तर तक छूट ही नहीं सकते ? उनका पाप ऐसा कौन सा काला कोलतार है जिसे धर्म का सनलाइट साबुन धोकर साफ नहीं कर सकता ? यदि ऐसी ही बात है तो यह कमजोरी हरिजनों की नहीं, धर्म की या उसके ठेकेदार आप जैसे लोगों की है।

'सुस्थितिकरणं नाम, परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र, स्थापनं तत्पदे पुनः॥'

'दूसरों पर सदनुग्रह करना ही परस्थितिकरण है। वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पद से भ्रष्ट हो चुके हों उन्हें उसी पद पर फिर स्थापित कर देना।' यह है जैन धर्म के सम्यग्दर्शन के छटवें अंग स्थितिकरण की महामहिमा। जब जैनी लोग जैन धर्म को सर्वव्यापी मानते हैं तो उनके

ही मतानुसार आज की स्थिति में स्थित हरिजन भी पहले के जैन धर्मानुयायी रहे होंगे, यही सिद्ध होता है। अतः यदि उन्हें पूर्ण रूप से पुनः जैन नहीं बना सकते तो दर्शन से भी वंचित कर अपने स्थितिकरण अंग का घातकर सम्यग्दर्शन को विकलाङ्ग क्यों बनाया जा रहा है ?

'श्वापिदेवोऽपि देवःश्वा, जायते धर्म किल्विषात् ।'

धर्म के प्रभाव से कुत्ते का देव होना और पाप के कारण देव का कुत्ता होना माननेवाले स्वामी समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को देव कहा है, तो क्या स्वामी समन्तभद्र से आप अधिक समझदार हैं जो उनकी गम्भीर गर्जना—

'सम्यग्दर्शन सम्पन्न—मपिमातङ्ग देहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म, गृढाङ्गारान्तरौजसम् ॥'

पर लकीर लगाये जा रहे हैं ! स्वामीजी के उक्त कथन का कारण कोई लोभ लालच या आप जैसी यशेच्छा नहीं थी, धर्म के पवित्र सिद्धान्तों को कोई स्वच्छंद लोकव्यवहारअनभिज्ञ आचार्य या मनचला मूर्ख पण्डित खण्डित न कर सके, यही था। इसलिए उन्होंने स्पष्ट भी कर दिया—

'स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय पवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुण—प्रीतिर्मता, निर्विचिकित्सता ॥'

"शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, उसमें पवित्रता देखना भूल है, उसकी पवित्रता तो रत्नत्रय से होती है। इसलिए किसी भी मनुष्य के शरीर से घृणा न करो, अपितु उसके गुणों से प्रेम करो। यही निर्विचिकित्सा है।"

महाराज !

जब शरीर स्वभाव से सभी का अपवित्र है चाहे वह आप हों या कोई जैन हो या भगी। आपके और आपके जैन भक्तों के शरीर में न कोई स्पेशल केमिकल वाटरप्रूफ लगा है और न संहनन में अन्तर ही है जो आपको और उन्हें हरिजनों से अधिक शुद्ध सिद्ध कर सके। गुणप्रीति करने की सहन शीलता यदि आप और उनमें नहीं है तो भी दुत्कारने का अधिकार

आपको कहां से मिला ! यदि जैन धर्म के आगम सिद्धान्त सत्य हैं तो जिस धर्म के प्रभाव से कुत्ता देव हो सकता है उसके प्रभाव से हरिजनों का आत्मकल्याण रोकना हठ के सिवा और कुछ नहीं है। या यों कहना चाहिये कि जिन शास्त्रों में—

'पूजनाध्ययने दान, परेषात्त्रीणि ते पुनः ।'

(धर्मसंग्रह श्रावकाचार)

पूजन करना, पढना और दान देना यह तीनों कर्म जिस तरह क्षत्रिय और वैश्य को करना बताया गया है उसी तरह शूद्र को भी करने का अधिकार दिया गया है, उन शास्त्रों की आज्ञा का आपके द्वारा लोप किया जा रहा है।

यदि इन प्रमाणों के बाद भी दुराग्रह से यह कुतर्क किया जाय कि शरीर से हरिजन भले ही जैनियों के समान हों परन्तु कर्म से असदृश या अशुद्ध हैं, तब प्रश्न होता है—धोती के भीतर कौन नगा नहीं है ! मैं तो यह कहता हूँ कि कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी अपेक्षा मानना पडेगा कि अपनी पवित्रता का ढोल पीटनेवाले तथाकथित उच्च वर्ग से जनता का सेवक ईमानदार भगी कहीं अधिक पवित्र है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो जैन धर्म में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह जो पांच महापाप बताये गये हैं वे आज अधिक मात्रा में अपने को ऊंचा मानने वालों के कर्म में ही दिखाई देते हैं। फिर समझ में नहीं आता—

'कम्मणा बम्हणो होई, सूद्दो हवइ कम्मणा ।'

सुकर्म से ब्राह्मण और दुष्कर्म से शूद्र मानने वाले नीच *कर्म करते हुए भी क्यों ऊंच ही बने रहते हैं, शूद्र क्यों नहीं हो जाते ?*

प्रातः उठते ही जैन साधु, मुनि, त्यागी, विद्वान और सद्गृहस्थ—

'सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषुजीवेषुकृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदाममात्माविदधातु देव !'

'प्राणीमात्र से मैत्री, गुणियों को देखकर आनन्द, दुखी जीवों के प्रति कृपाभाव और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भाव की कामना

करते दिखाई देते हैं। तब क्या यह नहीं पूछना चाहिये कि प्राणीमात्र से मैत्रीभावना करनेवालों का हरिजनों के प्रति इतना द्वेष क्यों ? क्या सत्व-प्राणियों मे हरिजनों की गिनती नहीं है ? गुणियों में आनन्द माननेवालों को हरिजनों के जिनभक्ति गुण से जलन क्यों ? (आपकी दृष्टि में) पाप-क्लेश-क्लिष्ट हरिजनों को दूर से दुत्कारने की कृपा क्यो ? जैन धर्म वंचित व्यक्तियों को उस ओर प्रवृत्ति करने पर विपरीत वृत्ति समझकर मध्यस्थ भाव के बदले घोर घृणा क्यो ?

जब आप जैन मन्दिरजी में पूजा करते हैं तब यही तो पढ़ते हैं—

'अपवित्रः पवित्रो वा, सुस्थितो दुस्थितोऽपिवा।
यः स्मरेत् परमात्मान स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः।'

इसका भावार्थ है—'अपवित्र हो चाहे पवित्र हो, उच्चकुलीन हो या नीच कुलीन, जो परमात्मा का स्मरण करता है उसका बाह्य भी पवित्र है और भीतर भी पवित्र है।' इस श्लोक के अनुसार तो हरिजनेतर को जिस भगवान के मन्दिर में जाने का अधिकार है उसी में जाने का हरिजनों को भी अधिकार है। यदि जैन लोग भगवन्नाम स्मरण से हरिजनों की शुद्धि नहीं मानते, तो उन्हें इस श्लोक को इस प्रकार पढना चाहिये कि "जैनी चाहे पवित्र हों चाहे अपवित्र, पुण्यात्मा हो चाहे पापी, जो जिन भगवान का स्मरण करेगा उसका बाहर भी शुद्ध है और भीतर भी शुद्ध है।"

मुनिवर ! रही व्यवस्था की बात, सो ससार में ऐसी कोई चीज नहीं जिसकी व्यवस्था न हो सके। बीना सागर की सन्मार्ग प्रचारिणी समिति ने जो नियम बनाये थे उन्हें मानकर हरिजनों को मन्दिर में जाने की सुविधा अवश्य देना चाहिये, आपसे निवेदन करूंगा कि द्रविड़ प्राणायाम छोड़कर सीधा प्राणायाम करना चाहिये। इसी में आचार्य पद की सरलता की शोभा है।

जन्मना वर्ण जाति कुल और गोत्र कल्पित हैं:—

पूज्यवर आचार्य महाराज ! आपके नाम पर ऐसे विचित्र निर्णय भी

दिये जाते है कि हरिजन जाति कुलवर्ण और गोत्र से नीच है अतः उन्हें मन्दिर प्रवेश का अधिकार नहीं ! परन्तु महाराज ! ऐसे निर्णय देते समय आप या आपके भक्त यदि विस्तृत विवेक से आगम के साथ इतिहास को भी देखें तो संभव है आपसे ऐसी भयंकर भूलें न भी हों जो आज जैनधर्म जैनागम और जैन समाज के लिए संकट की वस्तु बन रही हैं।

मनुस्मृति की बात छोड़िये जैन पुराण-आदि पुराण में बतलाया गया है कि युग के आदि में भगवान ऋषभदेव ने गुण कर्म के अनुसार क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की। इस व्यवस्था के अनुसार जो शस्त्र धारणकर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय कहलाये, जो खेती व्यापार और पशुओं का पालन कर आजीविका करते थे वे वैश्य कहलाये; जो इन दोनों की सेवा सुश्रुषा कर आजीविका करते थे वे शूद्र कहलाये। आदि पुराण के अनुसार कुछ काल बाद ऋषभदेव के पुत्र भरत ने व्रती श्रावकों को ब्राम्हण संज्ञा देकर ब्राम्हणवर्ग की स्थापना की। आजीविका के आधार पर इस तरह कर्म प्रधानता से चलाई गई वर्ण व्यवस्था नाम के लिए है वैदिक परम्परा की तरह जन्मना वर्ण व्यवस्था मानना काल्पनिक है। क्योंकि आजीविका के साधन बदल जाने पर वर्ण भी बदल जाता है।

" *मनुष्य जाति रेकैव जाति नामोदयोद्भवा।*
वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहश्न ते ॥

आचार्य जिनसेन ने तो स्पष्ट कहा है—"जाति नामक आदिपुराण ३८, ४३ कर्म अर्थात् मनुष्यजाति कर्म के उदय से प्राप्त होनेवाली मनुष्य जाति एक ही है। आजीविका के भेद से ही उसके ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद हुए। श्री पं० फूलचंद शास्त्री के अभिमतानुसार जहां कहीं जिनसेन को दूसरी व्यवस्था देनी पड़ी है वहां आदि पुराण का मनुस्मृति के साथ तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जिनसेन को मनुस्मृति के कुछ समाज धर्म को बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा। इसके पहिले रविषेण जैसे आचार्य ने पद्मपुराण में यह स्पष्ट ही कर दिया है कि जाति से ब्राह्मण आदि चार भेदों का मानना ठीक नहीं है; क्योंकि ब्राह्मण और शूद्र के शरीर

में कोई अंतर नहीं है। उत्तर पुराण मे आचार्य गुणभद्र ने भी इसीका समर्थन किया। प्रारम्भ में शूद्रों दीक्षा न दिये जाने का तात्पर्य यह था कि समाज-व्यवस्था के लिए वे कोई दूसरे वर्ण का कार्य न करें परन्तु यह बढ़ते बढ़ते यहां तक पहुँचा कि उन्हे धर्म दीक्षा भी रोक दी गई। इससे स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में दीक्षा के योग्य और अयोग्य कुल यह दो भेद वीरसेन स्वामी के समय में भी नहीं थे, इसलिये उन्होंने धवला टीका में "दीक्षा योग्य साधु आचार वाले" ऐसा पद दिया है। सर्वार्थ सिद्धि और राजवार्तिक में भी श्रमणों को चारों वर्णों से आया हुआ बतलाया है और उसका जीवित प्रमाण भी यह है कि जैन परम्परा में साधु सभी वर्ण के होते रहे हैं। क्योंकि उसमें देह, जाति और कुल वन्दनीय नहीं अपितु गुण वंदनीय माने गये हैं। पुराणों में जातियों का इतिहास मिलता ही नहीं। कुल और वर्णों का जो इतिहास मिलता है उससे उसकी वास्तविकता नहीं सिद्ध होती। जिस प्रकार लोगों के नेमिकुमार पार्श्वकुमार नाम रख दिये जाते हैं उसी प्रकार जाति कुल और वर्ण हैं। जैन समाज के प्रकाण्ड पंडित फूलचदजी सिद्धान्त-शास्त्री के शब्दों में—"ये जाति कुल और वर्ण बदले भी जा सकते हैं और समास भी किये जा सकते हैं। अन्तर योजना से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इनका एक ताजा उदाहरण बड़नगर और उसके आस पास रहने वाले नेमा जाति के कुछ व्यक्ति हैं। अब ये खंडेलवाल कहे जाने लगे हैं। इन्हे जैन होने के कारण अपनी जाति बदलनी पड़ी है। इससे इन जातियों और वंशों के बनने बिगड़ने का पता लगता है। वर्ण का भी यही हाल है। आजकल जिस प्रकार प्रोफेसरी करने वाले को प्रोफेसर और सराफी का काम करने वाले को सराफ कहा जाता है उसी प्रकार प्राचीन काल में आजीविका के आधार से वर्णों की कल्पना की गई थी। और उसमें इतनी गुन्जायश रखी गई थी कि आजीविका के साधन बदल जाने पर वर्ण भी बदला जाता है। जैन पुराणों में इस क्रिया को वर्ण-लाभ-क्रिया कहा गया है। षट् खण्डागम की धवल टीका में कुल को गोत्र का पर्यायवाची कहा गया है और गोत्र के विवेक के लिए आचार पक्ष की मुख्यता मानी गई है। इसलिए यह आवश्यक

है कि जिनधर्म की कोई भी दीक्षा लेने वाला मनुष्य सदाचारी होना चाहिये। किन्तु ऐसा सदाचार तीन वर्ण वाले व्यक्तियों में ही पाया जाता है, शूद्रवर्ण वाले व्यक्तियों में नहीं पाया जाता ऐसा कोई नियम नहीं है।.....यही कारण है कि वर्णों के आधार से हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि किससे किस गोत्र का उदय होता है। ब्राह्मण होकर भी नीच गोत्री हो सकता है, और शूद्र होकर भी उच्च गोत्री हो सकता है। माना कि धवल में वर्णों के आधार से गोत्र विभाग का निर्देश किया गया है परन्तु उसकी काल्पनिकता को भी तो धवलकार ने नहीं स्वीकार कर लिया है। इसलिए वर्णों के आधार से गोत्र का विभाग करना मूल मान्यता के विरुद्ध है।

(ज्ञानोदय अंक ४, ५)

जैन समाज के दिग्गज विद्वान, प्रो० श्री महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य के शब्दों मे जटिल मुनि ने कहा—जाति, कुल रूप आदि देहाश्रित हैं। वर्ण आजीविका और क्रिया के आधीन हैं, ये तो व्यवहार हैं। यह तो आपको विदित ही है कि व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कठ, द्रोण, पराशर आदि जन्म से ब्राह्मण नहीं थे पर तपस्या और सदाचार आदि से उन्होने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। यह ससार एक रंगशाला है। इसमें अपनी वृत्ति के अनुसार यह जीव नाना वेशों को धारण करता है। कम से कम धर्म का क्षेत्र तो ऐसा उन्मुक्त रहना चाहिये जिसमें मानव मात्र क्या प्राणी-मात्र शान्ति लाभ कर सके। आपही वतलाइये शूद्र यदि व्रत धारण करते, और सफाई से रहने विद्या और शील की उपासना करने लगें, मद्य, मांसादि को छोड़ दें तो उसमें और हममें क्या अंतर रह जाता है ? शरीर का रक्त मांस हड्डी आदि में जाति भेद है ? शरीर में तो ब्राह्मणत्व रहता नहीं है। आत्मा के उत्कर्ष का कहीं कोई बन्धन नहीं है। आज भी राज्य में अनेक तथोक्त नीचकुलोत्पन्न ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित हैं। हमारा तो यह निश्चित सिद्धांत है कि—

"क्रिया विशेषाद् व्यवहार मात्रात् दयाभि रक्षाकृषि शिल्प भेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥"

(वरांग चरित्र २५, ११)

अर्थात् दया आदि व्रतों के धारण करने से, कृषि करने से, और शिल्प आदि से ही ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की व्यवस्था है। यह क्रियाश्रित है, और व्यवहार मात्र है। दूसरे प्रकार से वर्ण व्यवस्था नहीं है।

(ज्ञानोदय अंक ४)

पूज्य आचार्य श्री! जिस सज्जाति का ढोल आप और आपके चेले पीटते हैं उसका तात्पर्य भी कभी किसीने सोचा? जरा शास्त्रों के पन्ने तो पलटिये, आपको लिखा मिलेगा—

"न विप्रा विप्रयो रस्ति सर्वथा शुद्ध शीलता।
कालेनऽनादिजे गोत्रे स्खलनं क्व न जायते॥
संयमो नियमः शीलं तपो दानं दमो दया।
विद्यन्ते तात्विका यस्यां सा जातिर्महतीमता॥

ब्राह्मण और अब्राह्मण की सर्वथा शुद्धि का दावा नहीं किया जा सकता है। यह कह कर कोई भी रक्त शुद्धि का ढिंढोरा नहीं पीट सकता कि, "उसके गोत्र में किसी ने व्यभिचार नहीं किया है और तत्संबन्धी दोष उसके गोत्र में नहीं चला आ रहा है।" क्योंकि रक्त परम्परा अनादि है, उसमें न जाने कब पतन हुआ हो। वास्तव में सज्जाति तो वही है जिसमें संयम, नियम, शील, तप, दान, दम और दया पाई जाती हो।

महाराज! आपका जाति की मान्यता मे अबभी मोह है, आप अब भी और किसीकी नही सुनना चाहते तो कम से कम पूज्यपाद की इस चेतावनी पर तो ध्यान दीजिये—

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनोभवः।
न मुच्यन्ते भवस्तस्मात्ते ये जातिकृता ग्रहाः॥
जाति लिङ्ग विकल्पेन येषां च समया ग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परम पद मात्मनः॥

जाति देहाश्रित है और देह ही संसार है, अतः जिनका जाति ब्राम्हणत्वादि का आग्रह है वे ससार से नहीं छूट सकते। जाति और वेष के विकल्प से जो मताग्रह करते हैं वे भी आत्मा का परम-पद नहीं पा सकते।

मुनिराज ! आपको बड़ा दयालु कहा जाता है। परन्तु जिन हरिजनों पर सन्त परम्परा दया करके उनका उद्धार करती आई है, सच मानिये आपके अनशन के अस्त्र ने उनके हृदय पर ऐसा प्रहार किया है कि उसके खण्ड-खण्ड हो गये ! शांति के सागर में जहां क्षुद्रता की लहरें लहरा उठीं हैं वहा ये बेचारे अब भी शांत हैं। वे शांत रहें पर धर्म की, धार्मिकता की विदीर्ण आत्मा आपको अब भी कोस रही है।

आचार्य श्री की आज्ञा—"मूर्तियों को नदी तालाब में फेंक दो !"

ता० २५-९-५० को सागर से प्रयाग आते समय गाड़ी में सागर से श्री धन्नालाल जी रायपुर का साथ हो गया। उन्होंने करीब २७ माह पहिले का हाल सुनाते हुए बताया कि—"मैं और मेरी पत्नी मिरज से आपरेशन कराकर महाराज(शान्तिसागरजी) के दर्शन करने बारामती गये थे। वहां हम लोग दो तीन दिन रहे। हमने हरिजन मन्दिर प्रवेश के सम्बन्ध में बातचीत की और श्री पूज्यवर आचार्य महाराज ने कहा कि गांधी इसी पाप के कारण मारे गये जो उन्होंने सबका धर्म बिगाड़ा। हरिजनों को मन्दिर में ले जाने से महान पाप है ! आप अपने तरफ के सब जैनियों को जाकर कहदो कि *शांतिसागरजी महाराज ने कहा है कि अगर मन्दिर मे हरिजन जाने लगे तो तुम मूर्तियों को नदी तालाब में फेंक दो* । या कि अपने घरों में ले जाओ, ताकि हरिजन न छू सकें।" यह है आचार्य श्री की आज्ञा, जिससे विवेकशील जैन, आचार्य श्री की आज्ञा पालन के लिये मूर्तियों की तरह शास्त्रों को भी या तो नदी तालाब में फेंक देंगे या घरों में रख लेगें। परन्तु आचार्य श्री ! एक उपाय आपने ही पूछता हूँ कि जब हरिजन जैन गुरुओं के चरण पकड़ने दौड़ेंगे तो वह कौनसी नदी या तालाब होगा जिसमें गुरु भक्त अपने गुरु को डुबा देने की व्यवस्था करेंगे ? आखिर देव-शास्त्र के समान गुरु के सम्मान की सुरक्षा भी तो आवश्यक होगी ?

जैनाचार्य या............?

आचार्य श्री के इशारे पर नाचने वाले जैन पत्रों ने जब हरिजन

मन्दिर प्रवेश निषेधक लेख छापना प्रारम्भ किया तब मैंने ता: १६ जुलाई १६४६ को बम्बई के प्रधान मंत्री श्री बी० जी० खेर महोदय को अपने अभिमत पर दृढ रहने के लिये एक लम्बा पत्र लिखा। उसमें शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा "हरिजन जैन मन्दिर जा सकते हैं", "जैन हिन्दू ही हैं," यह सिद्ध किया। उसकी प्रतिलिपियां विधान परिषद, पं० नेहरू जी, डा० अम्बेडकर, आचार्य महाराज और जैन पत्रों को भेजीं। आचार्य श्री ने समझा "होगा कोई बहकाया विद्यार्थी", परन्तु जब ता० १५ सितम्बर १६४६ के 'समाज' काशी मे "हरिजन जैन मंदिर मे जा सकते हैं" और ता० १८ सितम्बर १६४६ के दैनिक 'सन्मार्ग' बनारस में 'जैन हिंदू ही हैं' शीर्षक से मेरे दो लेख प्रकाशित हुए, समाज मे हलचल मची तब आचार्य श्री की जो क्रोध-ज्वाला भड़की उसने उन्हें जैनाचार्य के स्थान में दूसरे दुर्वासा का रूप दे दिया। आचार्य श्री के शब्दों मे उनके एक भीरु भक्त ने मुझे लिखा कि 'आचार्य श्री को आपके द्वारा बम्बई सरकार को भेजे गये पत्र की नकल और 'समाज' एवं 'सन्मार्ग' के वे दो अंक मिले जिनमें आपने हरिजन मंदिर प्रवेश समर्थक और जैन हिंदू समर्थक लेख प्रकाशित कराये हैं। **आचार्य श्री का कहना है कि— यदि तुम वर्णी पन्न मे इस तरह बोलोगे तो तुम इन शब्दों को शाप समझो कि तुम्हारा अध्ययन असफल होगा, परीक्षा में असफल रहोगे।**" आचार्य श्री का यह शाप सन्देश सुनते ही कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल की नायिका कुमारी शकुन्तला को शाप देने वाले मुनि की क्रोध कथा याद आई। मैंने आचार्य श्री को तुरन्त पत्र लिखा—"महाराज! अभी तक ऐसे कषायी मुनियों की कथा अजैन साहित्य में ही देखने को मिलती थी परन्तु दुःख है कि अब जैन समाज में भी दुर्वासा जैसे शाप दाता मुनि आपके रूप में प्रादुर्भूत होने लगे हैं! लेकिन समझ लीजिये कि यह कुमारी शकुन्तला नहीं; कुमार नरेन्द्र है, शाप देने के लिये उठाये जाने वाले जल कमण्डलु को उठाने के पहिले उलट देगा।" सुनने मे आया कि मेरा पत्र पहुँचते समय जिन सज्जनों ने सुना उनमें से कई एक ने मुझे आचार्य श्री के साथ हां में हां मिलाते हुए उद्दण्ड

कहा, तो किसीने जैसे को तैसा कहा। परन्तु आचार्य श्री स्पष्टीकरण मांगने पर भी आज तक यह स्पष्ट नहीं कर सके कि यह पत्र उनके द्वारा नहीं लिखाया गया था ! अस्तु उनकी शाप तो मुझे लगती ही क्या ! शान से परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ और अब प्रयाग विश्व-विद्यालय में बी. ए. साहित्याचार्य का विद्यार्थी भी हो गया। पाठक स्वयं सोचें कि यह जैनाचार्य है या.... .... !

चेतावनी:—

मुनिश्रेष्ठ ! आपके गंभीर ज्ञान, शांति, विचित्र आज्ञा और क्षमाशीलता के विरूप रूपकों, विचित्र चित्रों और अदृश्य दृश्यों से यह स्पष्ट हो गया कि आप उस शांति के सागर हैं जिसके क्षीर नीर में कोई प्यास बुझाना चाहेगा तो गला फट जायगा, गोता लगाने का प्रयत्न करेगा तो गल जायगा।

जैनधर्म के प्रचार के नाम पर फटी बाँसुरी का जो बेसुरा राग आप अलाप रहे हैं उसे सुनने के लिए अब किसी सहृदय के कान तैयार नहीं हैं। मैं आपको कटु सत्य शब्दों में बता देना चाहता हूँ कि महाराज आप मानें न मानें पर नये सविधान की ग्यारहवीं धारा जो क्रांतिकारी परिवर्तन करेगी उससे देशमें अछूतपन का तो अभाव हो ही जायगा, साथ ही किसी को भगी या चमार कहना भी जुर्म हो जायगा, ऐसे व्यक्तियों को कठोर कारावास का दंड दिया जायगा। बिल की मनसा मंदिर में वैसी अव्यवस्था उत्पन्न करना नहीं है जैसी धर्म के नाम पर जिस नीति को अपनाकर आप समाज मे प्रचारित कर रहे हैं। अपितु उसकी मनसा शूद्र होने के कारण मंदिर मे जाने की थोथी अयोग्यता को दूर करना है। आप न देख सकें तो दूसरी बात है, आपकी भक्त जनता भी देखेगी कि इतिहास के काले पृष्ठों पर एक ओर अंकित है कि बापू के मार्ग को अवरुद्ध करने वाले, महावीर के उदार मार्ग पर कांटे बिछाने वाले एक जैनाचार्य शांतिसागर के नाम से ऐसे हुए जिन्होंने अपने धर्म की विशालता और

उदारता का लोप करके भी हरिजन मदिर प्रवेश का निषेधकर राष्ट्रद्रोह किया ! और दूसरी ओर स्वर्णाक्षरों में यह भी अंकित होगा कि उस समय एक ऐसे भी यशस्वी, दूरदर्शी, महावीर के सच्चे अनुयायी जैन संत गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य के नाम से हुए जिन्होंने अपने धर्मकी विशाल उदारता की रक्षा हेतु हरिजनों का मदिर प्रवेश शास्त्र सम्मत सिद्धकर राष्ट्र के उद्धार में सच्चा सहयोग दिया !

महाराज ! अब भी मौका है, चेत जायें तो ठीक है अन्यथा इस धर्म की नाव को संसार सागर में उल्टी खेने में आप तो डूबेगें ही साथ में अपने भोले भक्तों को भी ले डूबेंगे !

जैन हिन्दू ही हैं

अब हम आचार्य शान्तिसागर जी की उस दूसरी भयकर भूल पर प्रकाश डाल रहे हैं जिसके द्वारा उन्होंने हरिजनों के जैन मंदिर प्रवेश निषेध के लिये "जैन हिन्दुओं से अलग हैं" का नारा लगाकर हिन्दू जाति के अंग भग और जैन सस्कृति को खतरे में डालने का प्रयत्न किया। जन समाज के प्रज्ञाचक्षु प्रकाण्ड पण्डित श्री सुखलाल संघवी के शब्दों में—"जन समाज हिन्दू समाज से पृथक है, इस विचार का उद्‌गम भय से हुआ है। जब हिन्दुस्तान में लागू होने वाले कानून रूढ़िचुस्त जैनों को रूढ़ि विरुद्ध मालूम होते हैं तब उस रूढ़ि धर्म को बचाने के लिये वे धर्म और समाज का एकीकरण कर अपने को नये कानूनों के चगुल से छुड़ाने के लिये इस प्रकार की भिन्नता के विचार करने लगते हैं। धार्मिक द्रव्य और हरिजन मन्दिर प्रवेश जैसे कानूनों में से निकल भागने की प्रवृत्ति से ही जैन और हिंदू के इस समय भिन्नत्व

की भावना उत्पन्न हुई है।" सघवीजी के शब्द आचार्य श्री के भीरु हृदय का अच्छा चित्र खीच रहे हैं। हां, तो आचार्य महाराज को गले में काँच रोग था, जिसके कारण चिकित्सकों के मतानुसार अन्न खाना हानिप्रद और अशक्य होना है। अतः दूध और फल लेना पड़ता है। आचार्य श्री ने चेलों की प्रेरणा से अपनी इस रोग विवशता के कारण को समाज पर डालने वाला फन्दा बनाया और घोषित किया कि जब तक हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून न उठेगा तब तक अन्न त्याग। समय ने भी खूब साथ दिया। लोगों का कहना है कि आचार्य महाराज सरीखा दूध, मलाई और चमन वाले अगूंर के साथ काश्मीरी मेव और बढ़िया बेदाना अनार और किसी को मिले तो तीन वर्ष को अन्न-त्याग कर दे। अस्तु जैन समाज और जैन पत्रों को आचार्य श्री की इस प्रतिज्ञा ने जबरन दबाया।

गत वर्ष विद्वत्परिषद के सोलापुर अधिवेशन में जो सातवां प्रस्ताव पास हुआ उसमें भी यह कहना पड़ा है कि "जैन हिन्दुओं से अलग हैं।" किन्तु जब हम शास्त्रीय परिभाषाओं और प्रामाणिक व्यक्तियों के कथन को देखते हैं तब जैन किसी भी तरह हिन्दुओं से पृथक सिद्ध नहीं होते। केवल जैन धर्म ही हिन्दू धर्म से पृथक् सिद्ध होता है।

सबसे पहिले तो यही विचारणीय है कि जैन सिद्धान्त ग्रन्थो में जब जातिभेद है ही नहीं, तब जैन क्योंकर केवल हिन्दुओं से अपने को पृथक् करने के लिए अपनी जाति भी "जैन" कहकर अपने आगम का लोप करना चाहते हैं? 'आदिपुराण' में आचार्य जिनसेन ने कहा है—

'मनुष्य जातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥'

'जाति नामक कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली मनुष्य जाति एकही है, आजीविका के भेद से उसमें 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र' रूप जो चार वर्णों की मान्यता है वह काल्पनिक है।' इसी तरह अन्य जैनाचार्य श्रीअमितगति, श्रीरविषेण भी जाति का कोई तात्विक भेद न मानकर आचार

पर ही उसे अवलम्बित कहते हैं। फिर भी जब हम जैन-इतिहास तथा अन्य पुराणों को देखते हैं, तब वर्णभेद काल्पनिक होने पर भी उपर्युक्त कथन में बाधा आती है। हमें अपने को किसी न किसी वर्ण में मान लेना पड़ता है, क्योंकि हमारे ही इतिहास में स्पष्ट लिखा है—

'भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा को शस्त्र धारण करने या उनका उपयोग करने, खेती, लेखन, व्यापार, विद्या और शिल्प कर्म—हस्तकौशल्य हाथ की कारीगरी बतायी। उस समय जिन्होंने शस्त्र धारण किया वे 'क्षत्रिय' कहलाये, जिन्होंने खेती, व्यापार, पशुपालन का कार्य किया वे 'वैश्य' कहलाये और इन दोनों की सेवा करने वाले शूद्र कहलाये। इस तरह भगवान ऋषभदेव ने तीनों वर्णों की स्थापना की। इसके पहिले वर्ण व्यवहार नहीं था। यहीं से वर्ण व्यवहार चला है और उसकी कल्पना मनुष्यों की आजीविका के कार्यों पर से की गयी थी। उस समय वर्णभेद था, जातिभेद नहीं था।

(प्राचीन जैन इतिहास प्र० भा० पृ० ३३)

'भरत ने अपनी लक्ष्मी दान करने के लिए ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। अर्थात् उस समय जो व्रती श्रावक थे जिनके चित्त कोमल धर्म रूप और दयायुक्त थे, उनका एक न्यारा ही वर्ण बनाया और उसका नाम 'ब्राह्मण' रखा।'

(प्रा० जै० इ० प्र० भा० पृ० ६१)

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भगवान ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णों की और चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना उनके पुत्र भरत ने की। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि उक्त चार वर्णों की कल्पना उस समय में वर्ण व्यवस्था के रूप में थी जो आज जाति व्यवस्था के रूप में पायी जाती है। इस तरह व्यापार करने वाला वैश्य-वर्ण आज वैश्य जाति कहलाता है। व्यापार, खेती और पशु-पालन की प्रधानता वैश्य जाति में आज भी पायी जाती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पहले की वर्ण व्यवस्था आज जाति व्यवस्था के रूप में परिणत हो गयी। उक्त कथन के अनुसार तात्कालिक वैश्य वर्ण का कार्य जैनों में पाया जाने से यह सिद्ध होता है कि

जैन जाति आर्य हिन्दू-जाति की एक उपजाति है क्योंकि आर्यों के चार ही वर्ण थे जो हिन्दू थे, इसलिए जैन हिन्दुओं से पृथक् नहीं हो सकते।

हिन्दू की प्रथम परिभाषा:—

"आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥"

"उत्तर में सिन्धु नदी के उद्गम स्थान से पूर्व, दक्षिण और पश्चिम समुद्र की सीमाओं के भीतर जो भारत भूमि है वह जिसकी पितृ भूमि और पुण्य-भूमि है वही हिन्दु है।" लोकमान्य तिलक की उक्त परिभाषा में 'हिंदु' शब्द 'सिंधु' शब्द का अपभ्रंश है, क्योंकि पारसी लोग "स" को "ह" कहते थे, जैसे "दस" को "दह" और "साठ" को "हाठ"। इसी तरह "सिंधु" से "हिंदु" हो गया और "सिंधुस्थान" से "हिंदुस्थान" बन गया।

वीर श्रीसावरकर के शब्दों में—"हिंदू शब्द के धात्वर्थ और उपयोग से स्पष्ट होता है कि यह शब्द किसी पारलौकिक तत्व मत या पथ के अनुयायी का वाचक नहीं है।......'हिंदू' शब्द की उत्पत्ति सिंधु शब्द से हुई है। वेद में उसके अपने समय के राष्ट्र को सप्त सिंधु नाम से सम्बोधित किया गया है, उसी प्राचीन समय में मुसलमानों के उदय के पूर्व में सैंकड़ों वर्षों से प्राचीन पारसी हमारे राष्ट्र को उसी 'सप्त सिंधु' शब्द से निकले हुए 'हप्त हिंदु' नाम से सम्बोधित किया करते थे? प्राचीन बाबिलोनियन हमारे देश को 'सिंधू' कहते थे। उस शब्द के इस प्राचीनतम अर्थ का आज भी अवशिष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सिंधु नदी के किनारे पर स्थित एक प्रांत का वही प्राचीनतम नाम हमेशा रहा है और अभी भी उसे सिंधु देश, सिंधु राष्ट्र (सिंधु, सिंध) ऐसा कहते हैं। सिंधु शब्द का ही प्राकृत भाषा के ('स' का 'ह' होने के) नियमानुसार 'हिंदु' यह प्राकृत शब्द बना।" सावरकरजी के इस कथनानुसार हिंदु शब्द भौगोलिक है, एक विशिष्ट राष्ट्र का वाचक है। इसका अर्थ सर्वस्व मूलतः धर्मनिष्ठ न होकर देशनिष्ठ या राष्ट्रनिष्ठ होता है।

जब प्रत्येक जैन वैदिक धर्मानुयायियों की तरह अखण्ड परम्परागत आर्य जाति का वंशज है, राम, कृष्ण और बुद्ध की तरह भगवान् महावीर सुविख्यात क्षत्रिय जाति में जन्मे हैं, अनेक बड़े बड़े ब्राह्मण क्षत्रियों की तरह वैश्य भी जैन धर्म की दीक्षा लेकर जैन धर्म के महोपदेशक तत्ववेत्ता साधु हुए हैं तब जैन दिगम्बर हो या श्वेताम्बर—उसकी मूल पितृभूमि भारतवर्ष ही है, चीन जर्मन जापान और रूस नहीं। तीर्थ प्रवर्तक तीर्थङ्कर, धर्मधुरंधर महापुरुष, एवं शिखरजी और गिरनारजी जैसे जैन तीर्थ क्षेत्र—पुण्य भूमि जब भारतवर्ष में ही हैं—अमेरिका इटली ब्रिटेन आदि योरुप के देशों में नहीं, तब जैन कैसे कह सकते हैं कि "हम हिंदू नहीं हैं ?"

सरदार पटेल ने बनारस मे स्पष्ट व्याख्या भी कर दी थी कि "हिंदू" से हमारा मतलब किसी साम्प्रदायिकता से नहीं अपितु आर्य जाति के संगठन से है। धर्म अलग-अलग मानने में कोई आपत्ति नहीं।" फिर भी यदि हिंदुओ से अपने को अलग मानते हों तो वैश्यवर्ण भी आपका नहीं हो सकता। रहा शूद्र वर्ण, सो आप पसद भी कर लें तो वह भी हिंदू वर्ण होने से आपको नहीं मिल सकता। इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के सिवा पांचवें वर्ण का अभाव होने से जैन निर्वर्ण होते हैं, अतः पहले यह सोच लें कि हिंदू, ईसाई, मुसलमान आदि किसी भी वर्ग में जब जैन न रहेंगे तब उनकी क्या गति होगी ? गति जो होगी उसे इतिहास शास्त्रानभिज्ञ 'जैन हिदुओं से अलग हैं' का नारा लगाने वाले आचार्य श्री, प्रस्ताव पास करने वाले पंडित और छापने वाले पक्षपाती सम्पादक नहीं जानते, न जानने का प्रयत्न भी करते हैं, क्योंकि ! आचार्य श्री को कलियुगी सर्वज्ञ बनने का अवसर है, पण्डितों को समाज की चापलूसी कर अपनी स्वार्थ साधना का अवसर है, सम्पादकों को रूढ़िवादी पाठकों को ग्राहक संख्या बढ़ाकर पैसे ऐंठने का अवसर है। इसलिये गति जो होगी उसे जानते हैं वे देहाती गरीब जैन; जिन्हें हिंदू मुसलमानों के हाथ पिटने का खतरा है, जिन्हे विरोधी वातावरण

देखकर खाना-पीना, सोना-बैठना, आना-जाना यहा तक कि जीवन-मरण भी कठिन हो गया है।

आचार्य श्री! आप और आपके भक्त यदि सचमुच समाज हितैषी बनना चाहते हैं तो मेरा निवेदन है कि जो दुराग्रह आप जैनों को हिंदुओं से अलग करने को करते हैं उसे छोड़कर सीधा, सत्य, सुरोचक, शांतिपूर्ण, सुव्यवस्थित और सुसगठित आग्रह इस बात के लिये करें कि सरकार 'हिंदू' का अर्थ "वैदिक धर्मानुयायी" न करके लोकमान्य तिलक की "आसिंधोः सिंधु पर्यंता" वाली पहिली परिभाषा के अनुसार भौगोलिक, देशनिष्ठ या राष्ट्रनिष्ठ ही करे।

अन्यथा स्मरण रहे आपका यह प्रयत्न जैन समाज की रक्षा के लिये नहीं अपितु विघात के लिए होगा। राष्ट्रीयता के वातावरण में इस प्रकार की परिभाषा करा देने से जैन समाज का भय नष्ट होगा, जातिमद दूर होगा।

—:०:—

"संजद" पद हटाना, आगम विच्छेद करना है।

आज के युग में उपलब्ध जैन शास्त्रों में धवल सिद्धान्त वह प्राचीन एवं पवित्र ग्रन्थ है जिससे हमे आत्म कल्याण की प्रबल प्रेरणा प्रतिक्षण सोते जागते–हर समय मिलती है। आचार्य महाराज ग्रन्थ की रचना कर सकने, उसके बल बूते पर वह यश प्राप्त कर सकने में असमर्थ थे अतएव आचार्य महाराज ने सीधा मार्ग कलिकाल सर्वज्ञ बन बैठने का खोजा, वह मिल भी बैठा परन्तु वह कुमार्ग निकला इसलिये आचार्य श्री की बुद्धि का घोड़ा आन्दोलनों की दल दल में फँस गया! आचार्य श्री ने कुछ अपनी दिमागी पूंजी, कुछ दूसरों से उधार ली हुई दिमागी पूंजी के बल पर निर्णय दे डाला कि ताम्रपट पर खुदने वाली प्रति में ९३ सूत्र से 'संजद' पद हटा दिया जाय। इस शब्द से द्रव्य स्त्री की मुक्ति होने की असार आशङ्का ने आकुल किया हो न किया हो परन्तु आचार्य भूतबलि, पुष्पदन्त और वीरसेन जैसे विद्वान बनने की

बृहदाभिलाषा ने उतावला बना दिया ! फलतः मूलप्रति में विद्यमान 'संजद' पद की भाव वेद परक संगति बैठाना तो आपको नहीं सूझा, ताम्रपट प्रति से काट देना तुरन्त सूझ गया ! व्याख्याकार आचार्य वीरसेन की टीका पर अपना अभिप्राय सूचक टिप्पण लगाना भी समझ में नहीं आया, आया तो वही जिससे लोग कानाफूसी कर रहे कि कहां तो धवलाकार वे आचार्य और कहां ये आचार्य शांतिसागरजी।"

विधर्मियों ने मूर्तियां नष्ट की, धर्म ग्रन्थ जलाये पर स्वधर्मी आचार्य श्री जैसे व्यक्तियों द्वारा भी सूत्रच्छेद कर आगम नष्ट करना कहां तक सह्य है यह उनके भक्त ही जानें। पर वह दुरवसर ही निकला कि आचार्य श्री के साथ वे भी पाप पङ्क में फँस गये ! श्री सुमेरचन्दजी दिवाकर शासन देवता के नाम पर बदनाम थे, पं० मक्खनलालजी मोरेना की पर्चे बाजी से खुलने वाली पोलपट्टी और पौंगा पन्थ समर्थन के कारण बदनाम थ। प० वर्धमानजी बम्बई परीक्षालय की धाधली के कारण बदनाम थे। इन्द्रलाल शास्त्री अपना इन्द्रजाल फैलाने की ताक में थे तो तनसुख और तेजपाल जैसे काला गोरा बनने की धुन में मस्त और निरञ्जन अञ्जन बनने को भी तैयार थे। चौकड़ी अच्छी जुड़ी, आचार्य श्री को उल्टा सीधा पाठ पढाकर सबने अपनी विद्वत्ता झाड़ने का अवसर पाया। गलती यह हुई कि जिन तीन भयकर भूलों को आचार्य श्री ने बड़े बनने का उपाय समझ रखा था वे उपाय साबित न होकर जो थी वही रही। संजद पद काटने की पोल तो ऐसी खुली कि सबकी बोलती बन्द हो गई। जो बोलते हैं वे टैं टैं टैं टैं करने के बाद जब तड़ाके के उत्तर का तमाचा खा जाते हैं तब ताजिया सिरा देने वाले मियों की तरह मातम मनाने बैठ जाते हैं। उनके एक भक्त की करतूत देखिये वे हैं एक तेजपाल काला।

—✱—

आचार्य श्री के अधिकांश भक्त काला ही हैं। नाम से काला होना, शरीर से काला होना बुरा नहीं है, हृदय के कालेपन के अनुसार कर्म से भी काला होना बुरा है। जैन दर्शन के १२ अङ्क में तेजपाल काला ने "स्वच्छन्दता" क्या लिखी ? अपनी पार्टी की "उदण्डता" या आचार्य जी के प्रति "अन्ध श्रद्धा" का चित्रण ही किया है। आपके लेख की कुछ पंक्तियां यह हैं—

"१ वस्तुतः आचार्य पद पर आसीन एक धर्मगुरु द्वारा जब इस विषय पर निर्णय दे दिया गया तब फिर यह मामला वहीं शांत हो जाना चाहिये था।''''''२ इसके विपरीत जो कार्य करते हैं वे स्वय नास्तिक, अविवेकी कहलाते हैं। धर्म शासन में धर्म गुरु की आज्ञा की अवहेलना करने वाला महान दण्ड का पात्र होता था। इतिहास इस बात का साक्षी है।''''३ आचार्य महाराज का सा तलस्पर्शी ज्ञान *आज समाज में किसी भी विद्वान को नहीं है यह हमारा सम्पूर्ण* विश्वास है।''''''४ परन्तु, आचार्य महाराज को भी संजद पद पर निर्णय देकर अशान्ति का बीज बोनेवाला लिखा है।''''''५ तथा जो निर्णय दिया है वह दो चार इने गिने विद्वानों के कहने से दिया आदि लिखा। ६ आचार्य महाराज को सिद्धांत शास्त्र का इतना गहरा और सूक्ष्म अनुभव है कि बड़े बड़े पण्डित भी उनके आगे शास्त्रों का वास्तविक अर्थ लगाने में चक्कर खा जाते हैं।"

श्री तेजपाल काला जी ! हृदय से सोचिये तो सही यह तेज आपने अपने लिये पाला है या दूसरों को काला बनाने के लिये ? इन पंक्तियों के उत्तर में आपसे यही कहना है कि १, वस्तुतः आचार्य पद पर आसीन उसी धर्मगुरु द्वारा दिया गया निर्णय मान्य होता है जो सैद्धांतिक और लौकिक तत्वों का आगम एवं परिस्थिति से निर्विरोध निर्णय देने योग्य विज्ञ है। और उन्हीं का निर्णय संगत और मान्य हो

सकता है । २, षट्खण्डागम के प्रणेता और टीकाकार जैसे आचार्य, आचार्य शांतिसागर से बहुविज्ञ, बहुधर्मज्ञ और बहुमान्य थे, अतः वही धर्मगुरु थे । इसीलिये धर्मशासन में—षट्खण्डागम सत्प्ररूपणा में संजद पद को काटकर धर्मगुरु की आज्ञा को उल्लङ्घन करने वाले आचार्य श्री आपके शब्दों मे स्वयं नास्तिक या अविवेकी क्या हैं ? उन्हें कौन सा दण्ड देकर आप इतिहास को आगे भी साक्षी बनाये रखना चाहते हैं ? नास्तिक और अविवेकी कहने की नकल आपने स्वतन्त्रजी के लिये की पर लग बैठी आचार्य श्री पर ! 'स्वल्प विद्या भयकरी' यही है । ३, आचार्य श्री के तलस्पर्शी ज्ञान में आपका पूरा विश्वास अधश्रद्धा के कारण भले ही हो । ४, परन्तु आचार्य महाराज ने संजद पद पर जो अविचारित रम्य निर्णय दिया है उससे होनेवाली सामाजिक अशांति ही इस बात का प्रमाण है कि वस्तुतः जो विद्वान होते हैं वे कभी ऐसी अशांति के कारण नहीं बनते । ५, तथा जो निर्णय दिया है वह आज तक आचार्य श्री के नाम से प्रबल प्रमाणों के साथ प्रकाशित नहीं हुआ । उनके नाम पर दूसरे कहते आये, स्वयं भी कहा हो तो स्पष्ट नहीं किया गया । ६, यही कारण है कि आचार्य महाराज के गहरे और सूक्ष्म अनुभवों का वास्तविक अर्थ लगाने में यदि बड़े बड़े विद्वान सत्य कह देते हैं तो उस तलस्पर्शी ज्ञान की तली अभी निकल पड़ती है इसलिये आचार्यश्री को शास्त्र विच्छेद करने वाले हठाग्रही या अन्य विद्रोहियों की कोटि में रखने से बचा लिया जाय आदि ऐसे कारण हैं जिनसे बड़े बड़े पंडित लोग चक्कर खा जाते हैं । और स्पष्ट अब हमसे न लिखाकर अपने हृदय को निष्पक्ष बनाकर उसीसे पूछिये तो आपको पता ज्ञानोदय बतलायेगा कि—"सत्प्ररूपणा के ९२, ९३ सूत्रों की स्थिति ८७, ८८ सूत्रों से भिन्न नहीं है । ९२, ९३ सूत्रों में मनुष्ययोनियों के पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था मे गुणस्थानों का विचार किया गया है । और ८७, ८८ सूत्रों में तिर्यंच योनियों के पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था में गुणस्थानों का विचार किया गया है । क्या कोई ऐसी स्थिति

में यह कहने का साहस कर सकता है कि यहां द्रव्य स्त्री का प्रकरण है। यदि यही बात होती तो स्वयं वीरसेन स्वामी ८७ वें सूत्र की उत्थानिका मे "स्त्री वेद विशिष्ट तिरश्चाम्" जैसे पद का निर्देश नहीं करते।" इससे स्पष्ट है कि आचार्य श्री का 'संजद' पद विच्छेद करना न शास्त्र सम्मत है, न विवेक बुद्धि और साहस का सूचक ही है।

आचार्य महाराज! पं० मक्खनलालजी जैसे आपके चेले जिन अकाट्य तर्कों पर मूलप्रति में 'संजद' पद न होने की घोषणा करते हैं, पं० वर्धमानजी और सुमेरचन्द्र जी दिवाकर जैसे लोग जो संदिग्ध, अवाच्य या अशुद्ध कहते हैं, उन्हें षटखन्डागम की ७ वीं प्रस्तावना में मुद्रित पं० लोकनाथ शास्त्री जी द्वारा भेजे गये उस पत्र को देखना चाहिये जिसमें ता० २४।५।४५ को प्रोफेसर श्री हीरालाल जी को उन्होंने मूड़बिद्री से लिखा था कि—

"जीवट्ठाण भाग १ पृष्ठ न०३३२ मे सूत्र ताड़पत्रीय मूल प्रति में इस प्रकार है—तत्रत्र शेष गुणस्थान विषयारेकापोहनार्थमाह- सम्मामिच्छा इट्ठि, असंजद सम्माइट्ठी संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पजत्तियाओ।

टीका वही है जो मुद्रित पुस्तक में है। धवला की दो ताड़पत्रीय प्रतियों में सूत्र इसी प्रकार संजद पद स युक्त है तीसरी प्रति में ताड़पत्र नहीं है। पहले संशोधन-मुकाबला करके भेजते समय भी लिखकर भेजा था। परन्तु रहा कैसा, सो मालूम नहीं पड़ता सो जानियेगा।"

श्रीमान् पूज्य गुरुवर्य्य महोदय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के शब्दों मे "पं० लोकनाथजी शास्त्री पं० वर्धमानजी शास्त्री के सहोदर बड़े भाई हैं। बड़े ही अध्यवसायी व्यक्ति हैं और सिद्धान्त ग्रन्थोंके संशोधनका बहुत कुछ श्रेय आप को ही है। आपके उक्त पत्र से प्रकट हैं कि आपने पहले भी मिलान करके ९३ वें सूत्र में 'संजद' पद लिखकर भेजा था। मगर दिगम्बर सम्प्रदाय और दि० जैनधर्म के दुर्भाग्य से वह जाने कैसे छूट गया। यदि उसी समय यह पद मूल सूत्र मे प्रकाशित हो जाता तो वर्षों से जो वावेला मचा हुआ है वह न मचता। अस्तु, होनहार को कौन टाल सकता है!"

"उक्त पत्र से यह भी स्पष्ट है कि ताड़पत्र की जो २ प्रति पूरी हैं उन दोनों में ही 'संजद' पद मौजूद है। (सिर्फ १ प्रति में वह ताड़पत्र ही नहीं है) पं० वर्धमानजी उनमें से एक को अवाच्य ठहराते हैं और एक की स्थिति संदिग्ध बतलाते हैं। सागर और इटावा में होने वाली सजद पद चर्चा में पं० वर्धमानजी उपस्थित थे और उन्होंने स्वीकार किया था कि ताड़पत्र की प्रति में संजद पद मौजूद है। बोधक में भी वह पहिले यह बात प्रकाशित कर चुके हैं। उनका कहना है कि मूलप्रति में ६३ वें सूत्र मे एक 'ट्ठ' अधिक है अर्थात संजदासजदट्ठ संजदट्ठाणे' पाठ है। किन्तु इतने मात्र से उसकी स्थिति सदिग्ध नहीं हो सकती। इससे तो इस बात की और पुष्टि होती है कि जिस प्रति पर से वह प्रति की गई है उसमें सजद पद मौजूद था। इसके शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मूड़बिद्री में ताड़पत्र की एक भी प्रति ऐसी नहीं है जिसमें सजद' पद न हो, प्रत्युत अभी भी दो प्रतिया ऐसी मौजूद हैं जिनमें संजद पद वर्तमान हैं। किन्तु सजद पद के विरोधियो के इस नये रुख से हमें यह भय होगया है कि उन दोनों प्रतियों के ६३ वे सूत्र वाले ताड़पत्र भविष्य में भी अपने मूल रूप में सुरक्षित रह सकेंगे या नहीं, कहीं विरोधियों के द्वारा उनकी भी वही दशा न कराई जाय जो ताम्रपत्र की कराई गई है।

पं० जिनदासजी ने ता० ७ सितम्बर के सन्देश में "पं० वर्धमान शास्त्री की अद्भुत तटस्थता" प्रकाशित कराकर भूली हुई बात का स्मरण करा दिया। पाठक गण एक बार फिर उस प्रकरण को पढ जाये। उस समय भी पं०मक्खनलालजी ने पं० वर्धमान शास्त्री के द्वारा प्रत्यक्ष दृष्ट सजद शब्द के मूलप्रतिमें होने की बात को स्वीकार नहीं किया था और पं० वर्धमान शास्त्री के संजद पद के पक्ष में हो जाने के कारण जैन बोधक की सम्पादकी से स्तीफा तक दे दिया था। पाठक जरा इस हटवादिता और दुराग्रह को तो देखें। ऐसे हठी व्यक्तियोंसे निष्पक्षता की आशा करना धूलसे तेल निकालनेके ही सम कक्ष है, परन्तु हमे पं० वर्धमान जी शास्त्री की इस परिवर्तित मानोवृत्ति पर आश्चर्य होता है कि जिस संजद पद की स्थिति के सम्बन्ध में एक बार उन्होंने अपने मित्र प०मक्खनलाल जी शास्त्री तक को रुष्ट कर दिया था, आज वे उसे

ही अवाच्य और सन्दिग्ध कैसे बतला रहे हैं ? क्या इधर पांच वर्ष में ताड़पत्रीय प्रतिका 'संजद पद' वाला स्थल कुछ कट फट गया है, या दृष्टि मान्द्य से आप पीड़ित हो गये हैं । किन्तु जिस संघ की ओर से सिद्धान्त त्रयों के ताम्रपत्र लेखन का कार्य हुआ है, उसके मंत्री जी के वक्तव्य से तो ज्ञात हुआ है कि उन्होंने मूड़बिद्री मे वर्तमान धवल ग्रन्थ की ताड़पत्र की दोनों प्रतियों का फोटो तैयार कराकर अपने पास बुला लिया है। वे लिखते हैं— 'धवला की ताड़ पत्र की असली दोनों प्रतियो में ठीक स्थान पर और ठीक रूप में 'संजद' शब्द पाया जाता है।' फिर आप कैसे उसे अवाच्य और सन्दिग्ध ठहराते हैं ? किन्तु प० वर्धमान जी ने यह बात आचार्य महाराज के द्वारा अपने तथोक्त निर्णय की घोषणा के बाद उन्हीं के समक्ष कही है। अतः हो सकता है, आचार्य महाराज की बात रखने के लिये वे ऐसा कह गये हों, किन्तु दोनों प्रतियों में संजद शब्द ६३ वे सूत्र मे मौजूद है यह निर्विवाद सत्य है।

और भी प्रमाण

"हमें विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि आज कल सर सेठ हुकुमचन्दजी सा० की शास्त्र सभा में भी प्रकृत विषय पर ही चर्चा चलती है। अतः सेठ साहब ने पं०सुब्बैया शास्त्री को प्रेरणा की कि आप मूड़बिद्री जाकर ताड़पत्र की प्राचीन प्रति को देखो कि ६३ वें सूत्र में 'सजद' पद है या नहीं।

"सुब्बैया शास्त्री ने मूड़बिद्री जाकर और प्रति देखकर सेठ सा० से टेलीफोन पर बातचीत की। उस समय वहां उनकी शास्त्र सभा के सदस्य उपस्थित थे। पं० सुब्बैया शास्त्री ने कहा कि 'ताड़ पत्र की दोनों प्रतियों में ६३ वें सूत्र में 'संजद' पद बिलकुल स्पष्ट और साफ है. मैंने अपनी आखों से देखा है।'

"अतः मूल प्रति मे 'संजद' शब्द न होने की बात बिल्कुल निराधार है इस पर किसी को भी विश्वास नहीं करना चाहिये। जो ऐसे मिथ्या प्रवाद फैलाता है, वह जिन आगम की आसातना करने का दोषी है।

ऐसे ही लोगों के बारे में तो कहा है—

सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंत जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठि जीवो तदो पहुदि ॥

'सूत्र से भले प्रकार दिखा देने पर भी जो उस पर विश्वास नहीं करता और अपनी हा बात पर अड़ा रहता है वह अन्यथा श्रद्धाना जीव उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है ।'

"अतः अब भी जो हठाग्रही मूल प्रति में सजद शब्द न होने की बात कहते हैं या उसे अवाच्य, संदिग्ध ठहराते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं । अस्तु ।··· ······· ···············

"इसके सिवा आज तो वह स्थिति पेदा कर दी गई है कि वीरसेन स्वामी स्वय भी अवतरित होकर यदि यह कहें कि ६३ वें सूत्र में 'सजद' पद है तो उनको भी सज्द पद के विरोधी श्वेताम्बरों का समर्थक कहे बिना न रहेंगे—क्योंकि ६३ वे सूत्र की उनकी टीका इतनी स्पष्ट और समाधान कारक है कि यदि उसे हा निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो वही 'सजद' पद के पक्ष मे वीरसेन स्वामी का प्रतिनिधित्व करने के लिये पर्याप्त है । किन्तु उसमे दो बार आये हुए 'अस्मादेवार्षात्' पद से संजद पद के विरोधी ६३ वे सूत्र का न लेकर इधर उधर भटकते हैं । उदाहरण के लिये दिवाकरजी को ही ले लीजिये । · ·· ·

"दिवाकरजी 'आर्ष' का भाव सूत्र लेना ठीक नहा बतलाते और स्वयं उससे ६२ वें और २७ वे सूत्र का ग्रहण भी करते हैं । यह है—'बदतोव्याघात' । क्यों साहब ! दोना 'आर्ष' पदों से ६२ वें और २७ वे सूत्र का ही ग्रहण क्यो किया जाय, ६३वें का ग्रहण क्यो न किया जाय ? क्या इसमें कोई उपपत्ति भी है ? किन्तु ६३ वें सूत्र को ग्रहण करने से उसमें 'सजद'पद सिद्ध हो जाता है जो उसके विरोधियों को अभीष्ट नहीं है । तभी तो अस्मादेवार्षात्'—जैसे स्पष्ट निर्देश के होते हुए भी उन्हें ६२ वें और २७ वें सूत्र के साथ उसका बादरायण सम्बन्ध बैठाकर अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ी हैं ।

"दिवाकरजी के शब्दों में ही हमारा अनुरोध है कि 'प्राचीन प्रतियों पर विचार करते हुए सचाई और आगम परम्परा को ही अपना पथ प्रदर्शक बनायें, पत्तवाद को नहीं।' काम वह होना चाहिये कि प्राचीन प्रतियों में उपलब्ध शुद्ध पाठ की भी सुरक्षा हो, आचार्य वीरसेन स्वामी के वचनों की भी सगति बठे और दिगम्बर सिद्धान्त की भी सुरक्षा हो। ६३ वें सूत्र में संजद पद मानने से प्राचीन प्रतियों का पाठ निकालना नहीं पड़ता, ६३ वें सूत्र की जयधवला टीका के अर्थ करने में कोई क्लिष्ट और असंगत कल्पना नहीं करनी पड़ती तथा भाववेद की अपेक्षा कथन होने से दिगंबर सिद्धान्त को भी कोई क्षति नहीं पहुँचती। इसके विपरीत 'संजद' पद को निकाल देने से उपलब्ध मूल पाठ के साथ ही साथ दिगंबर परम्परा को कालान्तर में गहरी क्षति उठानी पड़ेगी। उनके आगमों की और आचार्यों की प्रामाणिकता को गहरी ठेस पहुँचेगी, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण श्वेतांबर पत्रों की वर्तमान चर्चा है।

"फिर आज की सम्पादन कला की दृष्टि से भी प्राचीन पाठ की सुरक्षा होना जरूरी है। वर्तमान युग के सुधारक से सुधारक सम्पादन-कला-कुशल व्यक्ति प्राचीन पाठों के प्रति कट्टर स्थिति-पालकता का ही परिचय देते हैं। किन्तु हमारे कट्टर से कट्टर स्थिति-पालक विद्वान ६३ वें सूत्र के लिये प्रबलतम सुधारक साबित हो रहे हैं! अतः उनसे मेरी प्रार्थना है कि इस विषय में भी वे अपनी क्रमागत परम्परा का ही पालन और संरक्षण करें। सुधारक ही बनना हो तो उसका सूत्रपात जैनागम से न करें अन्यथा यह सुधार बड़ा महंगा पड़ेगा।

पं० माणिकचन्दजी के पत्र

आचार्य महाराज के नाम से जो निर्णय पत्रों में प्रकाशित हुआ था उसमें उन्होंने कोई सैद्धान्तिक अनुपपत्तियाँ न उठाकर पं० माणिकचन्दजी सा० के मत पर ही अधिक जोर दिया था तथा उससे ऐसा ज्ञात होता था कि आचार्य महाराज के तयोक्त निर्णय में पंडितजी के मत ने अधिक काम

किया है। अतः हम उनके पत्रों को देखने के लिये बहुत उत्सुक थे। सेठ बालचन्दजी ने अपने वक्तव्य में पंडितजी के दोनों पत्र प्रकाशित कर दिये हैं। पंडितजी के प्रथम पत्र से जो निष्कर्ष निकलते हैं वे इस प्रकार हैं—

१—भाव स्त्री की अपेक्षा संजद पद आवश्यक है। अतः किसी प्राचीन प्रति में यदि संजद शब्द हो तो वह भावस्त्री की अपेक्षा से ही संलग्न किया जा सकता है।

२—किन्तु प्रकरण का निरीक्षण करने पर वहाँ पर्याप्त द्रव्य स्त्री का प्रतिपादन है अतः 'संजद' शब्द नहीं रखा जाये, यही उचित और आवश्यक जँचता है।

३—फिर भी नीचे नोट में टिप्पणी कर सकते हैं कि किसी पुस्तक मे संजद शब्द है, वह भावस्त्री की अपेक्षा समझा जाये।

उनके दूसरे पत्र के निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१—दो वर्ष प्रथम जब मुझसे दो-तीन विद्वानों ने सम्मति मांगी थी, तब यह परिस्थिति थी कि दो प्रतियों में संजद शब्द है और अनेक प्रतियों में संजद शब्द नहीं है, ऐसी दशा में किस पुस्तक को शुद्ध समझा जाये। मैंने ग्रन्थ का स्वाध्याय कर यह तात्पर्य निकाला कि ९३ वें सूत्र में द्रव्य स्त्री का शब्द जंचता है अत संजद शब्द नहीं होय तो ठीक है।

२—आचार्य महाराज ऐसा मार्ग निकालें जिससे क्षोभ न बढ़े। विद्वानों के सम्वादों से नहीं किन्तु प्राचीन प्रतियों के लेख पर से निर्णय कर देवें। इस समय मूल प्राचीन प्रतियों के पाठ के अक्षुण्ण बने रहने की समस्या है। ताम्रपत्रों में चिरकाल स्थित्यर्थ ग्रन्थ को उट्टंकित किया गया है। आचार्य महाराज कर्नाटक लिपि भली भाँति पढ़ लेते हैं। मूड़बिद्री के सिद्धान्त भण्डार की प्रति में अथवा दक्षिण की अन्य प्राचीन प्रतियों में जो पाठ हो, तदनुसार ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण कर दिया जाये, घटाने बढ़ाने का काण्ड रोक दिया जाये। मूल ग्रन्थ की रक्षा का उद्देश्य पल जाना चाहिये।

इन दोनों पत्रों के निष्कर्षों का निचोड़ यह है कि प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों में जो पाठ है वही अङ्कित किया जाये और उनमें यदि 'संजद' पद है तो वह भाव स्त्री की अपेक्षा समझा जाये और टिप्पण में यह बात अङ्कित कर दी जाये।

"यदि आचार्य महाराज ने पंडितजी की इस सम्मति का समादर किया होता तो सारा विवाद शान्त हो जाता। किन्तु उसका उल्लेख करके भी पता नहीं आचार्य महाराज ने क्यों वैसा नहीं किया......"

'मूडबिद्री के पं० लोकनाथजी शास्त्री की सूचना के अनुसार धवला की दो ताड़पत्रीय प्रतियों में ९३ वें सूत्र में संजद पद है और तीसरी प्रति में वह ताड़पत्र ही नहीं है जिसमें ९३ वें सूत्र था। उक्त दोनों ही प्रतियों का फोटो ताम्रपत्र खुदाने वाली समिति के मन्त्री के पास आ चुकी है फिर भी आचार्य महाराज की ओर से ऐसा प्रचार क्यों किया जा रहा है!

"संजद पद के विरोधी आन्दोलन के सूत्रधारों से अब जब चर्चा चल रही और आचार्य महाराज ने संजद पद निकालने का आदेश दे दिया तो श्वेताम्बर पत्रों ने दिगम्बर सिद्धान्तों को आड़े हाथों लेना शुरू कर दिया। आजकल उनमें यही चर्चा है कि दिगम्बर सिद्धान्त ग्रंथों से भी स्त्री मुक्ति सिद्ध होती है। इसी भय से संजद पद निकाला जा रहा है। इस पर पं० मक्खनलालजी बड़े घबराये हैं और लिखते हैं 'संजद पद रखने वाले दिगम्बर पंडित आँखें खोले।'

पं० जी महाराज! उनकी आँखें तो पहले से ही खुली हुई हैं। वे खूब जानते हैं कि केवल एक ९३ वें सूत्र में से संजद पद हटा देने से कितनी

विशृंखलता उत्पन्न होगी। आंखें बन्द तो संजद पद के विरोधियों की हैं, जो केवल स्वपक्षाभिनिवेश के वशीभूत होकर दिगम्बर आम्नाय पर कुठाराघात करा रहे हैं। अब भी वे सम्हल जायें तो कुछ बिगड़ा नहीं है किन्तु अब उनकी शनि दृष्टि ताड़पत्र की मूल प्रतियों में वर्तमान 'संजद' शब्द पर पड़ी है। देखना यही है कि यह महान् सत्कृत्य कब होता है।"

"जैन संदेश २४ अगस्त और २१ सितम्बर १६५०"

जिस सत्कृत्य की प्रतीक्षा हमारे गुरुवर्ग महोदय कर रहे हैं वह आचार्यजी के समक्ष तो हो नहीं सकता! अस्तु, हो न हो पर उक्त स्थिति इस बात का परिचय दे रही है कि 'संजद' पद सिद्ध करने का चेलेञ्ज देने वाले क्षुल्लक क्षीरसागरजी और पं० मक्खनलालजी धर्मालङ्कार आदि आचार्य भक्त न यथार्थवादी हैं! न उन्होंने धर्म के यथार्थ रूप को कभी अपने जीवन में उतारा ही है!

आचार्य श्री! अच्छा शास्त्र अध्ययन और अच्छा प्रभाव है आपका जोऐसी मण्डली आपने तयार की। कुछ भी हो महाराज! आपको यदि वस्तुतः आगम की रक्षा करना है तो आगम का विच्छेद न करिये। और न कलिकाल सर्वज्ञ बनने का स्वप्न ही देखिये। यदि आपका यही हाल रहा तो महादेवजी के तृतीय नेत्र का काम—आपकी यह तीन भयकर भूलें ही कर डालेंगी! उन्होंने केवल सृष्टि का सहार किया था परन्तु आपकी भूलें जैन धर्म, जैनागम और जैन समाज सभी को भस्म किये बिना न छोड़ेगी। परन्तु क्या आप सोचते हैं कि समाज तब भी शान्त रहेगा? इसका उत्तर बढ़ती विद्रोह अग्नि दे रही है जो आप स्वय भड़काकर तमाशा देख रहे हैं!

पं. इन्द्रलालजी का इन्द्रजाल

आध्यात्मिकता के पुजारी महामना सन्त पूज्य प० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य महाराज द्वारा हरिजन मंदिर प्रवेश के सम्बन्ध मे दिये गये

उनके सामयिक, राष्ट्रीय एवं आगम निर्विरोध निर्णय से पोंगा पंथियों का आसन डोला कि उनके तथा कथित शास्त्री विद्यालंकार पं० इन्द्रलाल जैसे अल्प ज्ञानी ने भी पूज्य वर्णी जी को अपनी कलम कृपाण का लक्ष्य बनाना चाहा! "जैन मंदिर और हरिजन" नाम से वर्णी जी के वक्तव्य पर विवेचन करने की हिमाकत क्या दिखाई ? इन्द्रलाल जी ने अपना इन्द्रजाल ही फैलाया है। प्रतीत होता है न केवल आपने अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित की है, पुस्तक में वर्णी जी के प्रति प्रयुक्त शब्दों में आपने वह अशिष्टता भी प्रदर्शित की है जिससे वर्णी जी जैसे शांत सन्त की आज्ञा "भैया ! शांत रहो, कहने दो कहने वालों को, तुम्हारा क्या बिगड़ता है ? अरे हमसे ही तो कहा है, तुम क्यों रुष्ट होकर अपना धैर्य खोते हो ! आचार्य महाराज तपस्वी सन्त हैं, वे या उनके भक्त हमसे चाहे जो कहे, तुम्हें पढ़ने से प्रयोजन है या ऐसे झगड़ों में पड़ने से ?" का पालन मैं चाहते हुए भी नहीं कर सका ! आखिर गुरुओं के गुरु का यह अपमान कैसे सहा जाता ? फलत: पुस्तक का उत्तर लिखने के लिये जब बैठा तब पुस्तक के ऊल जलूल शब्द और ऊट पटांग भाषा देखकर प्रतीत हुआ जैसे पं० इन्द्रलाल जी का यह प्रयत्न सूर्य पर उल्लू की चढ़ाई के सिवा और कुछ न हो। लेखक द्वारा लिखित ट्रैक्टों की सूची और जैन गजट का भ्रष्ट सम्पादन ही उनके उस छुटपुजिया ज्ञान का द्योतक है जिसे उन्होंने "निरस्त पादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" बिना वृक्षों के देश में अण्डे के पेड़ को भी पेड़ बनाना प्रारम्भ किया है ! जिस वर्ण विज्ञान को देखने के लिये आपने वर्णी जी को बार बार बाध्य किया है वह ब्राह्मण-वैदिक दिमाग के अनुकरण के सिवा और क्या है ! पता नहीं समाज में इस तरह के अकाण्ड ताण्डव कराने वाले इन पंडित जी ने श्रेयोमार्ग, महावीर देशना अहिंसा तत्त्व और तत्वालोक में कहां तक समाज कल्याण की रूपरेखा रखी होगी। आपकी पुस्तक "तत्त्वालोक" की जैन सन्देश में अभी जो समालोचना प्रकाशित हुई है उससे ही स्पष्ट है कि न आप कांग्रेसी हैं, न हिंदू महासभाई न संघिष्ट, न कम्यूनिस्ट। गोड़से गांधीजी के नश्वर शरीर को नष्ट करने वाला था तो आप गांधीजी के सिद्धांतों की हत्या करने वाले विद्वान हैं। लोग इसे यही

समझ सके हैं। अस्तु, पंडित जी! विवेक का चश्मा लगाकर जरा दूर दृष्टि से देखिये, हरिजन मन्दिर प्रवेश, जैन हिन्दू और सूत्रच्छेद प्रकरण के सम्बन्ध में आपकी थोथी दलीलों का उत्तर डंके की चोट पर पूज्यपाद गुरुदेव आचार्य महाराज को इसी पुस्तक में उनकी तीन भयंकर भूलें सिद्ध करते हुए (१) "हरिजन जैन मन्दिर में जा सकते हैं, (२) जैन हिन्दू ही हैं, (३) 'संजद' पद हटाना आगम विच्छेद करना है" इन तीन शीर्षकों से दिया जा चुका है। इसके पूर्व हमारे गुरुदेव श्रीमान पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य 'वसन्त' सागर, "जैन समाज के दो आन्दोलन" टैक्ट में भी आपको करारा उत्तर दे चुके हैं। इन सबको शांत स्वभाव से पढ़ जाइये दिमाग बिलकुल साफ हो जायगा। समाज को धोखे में डालने वाले कुतर्कों का उत्तर भी हम दे रहे हैं।

"हरिजन और उनका उद्धार" शीर्षक पर किये गये—

प्रथम विवेचन का उत्तर

पूज्य वर्णीजी ने हरिजन मंदिर प्रवेश के सम्बन्ध में अपना निर्णय "हरिजन और उनका उद्धार" आदि लेख के छह अंशों में दिया था। जिनसे घबड़ाकर पं० इंद्रलालजी को यह जाल बिछाना पड़ा! और उसके काटने के लिये हमें भी अपनी कलम कैंची को संभालकर तेज करना पड़ा।

पंडितजी महाराज! पूज्य वर्णीजी जैसे महामना सन्त के सामयिक, आगमानुकूल निर्णय से बौखलाकर आपने जो 'जैन मंदिर और हरिजन' पुस्तक लिखकर अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य की छाप जमाना चाही है वह सचमुच पूछा जाय तो आपकी अनधिकार चेष्टा ही है। आचार्य महाराज लिखते तो शोभा भी थी। अस्तु उक्त पुस्तक के पृष्ठ १८ पर "हरिजन और उनका उद्धार" शीर्षक वर्णीजी के लेखांश पर लिखते हुए आपने पूज्य वर्णीजी जैसे सन्त को 'बहुत ठण्डे दिमाक और तात्विक दृष्टि से विचार करने' एव 'भावुकता में न बहने' की जो प्रेरणा की है, अच्छा होता इस

मंत्र का प्रयोग आप अपने लिये भी करते तो ऐसी भ्रष्ट भाषा का प्रयोग और यह रचना रचने की बात आपके दिमाक में न आती। आचार्य श्री की बाजू हारती देख जिस भावुकता में, जिस भक्ति भावावेश में आप बहे हैं, प्रतीत होता है बहुत ठण्डे दिमाक और तात्विक दृष्टि से आपने विचार नहीं किया। उसीका परिणाम है अन्त में पुस्तक के पृष्ठ ८३ पर "वर्णीजी महाराज को मैं पूज्य मानता हूं, उनके त्याग और पद का मेरे हृदय में उच्च स्थान है, परन्तु पूज्य जनों से निवेदन तो किया जाता ही है आशा है कि पूज्य वर्णीजी मेरे उक्त निवेदन को भावकता को छोड़कर विचार करेंगे और यदि कहीं—क्रोध का कारण हो तो आप अपना सेवक समझकर क्षमा ही करेंगे।" इन शब्दों से वर्णीजी का प्रभावक व्यक्तित्व और अपनी भावुकता स्वीकार करते हुए आपको क्षमा याचना भी करनी पड़ी। पं० जो ठहरे, अच्छा है "दिन भर के भूले सायंकाल ठिकाने पर आ गये" इसलिये अब आपके विवेचन पर उत्तर लिखना अनावश्यक ही है, परन्तु पुस्तक भर में आपने जिस असभ्यता का प्रदर्शन कर हमें भी 'जैसे को तैसा' बनने के लिये बाध्य किया है वह आपकी बगुला भक्ति या श्मशान में शृगालोपदेश मालूम पड़ता है अतः लिखना आवश्यक समझ कुछ लिख रहा हूँ।

आपके हृदय में कुछ विवेक ज्योति जगी कि आपने पृष्ठ ५ पर तुरन्त स्वीकार कर लिया कि—"ज्यों ज्यों गुणों का विकास होता है त्यों त्यों ही आत्मा विशुद्ध उच्च और पूज्य बनता जाता है और ज्यों ज्यों गुणों का पतन होता जाता है त्यों त्यों ही वह नरक निगोदादि का पात्र बनता जाता है। गुणों का विकास सम्यक् दर्शन ज्ञान और चारित्र से होता है।" परन्तु पंडितजी! इस विवेक पर जब अविवेक का परदा पड़ा तब आपने पृष्ठ ७ पर फिर वही पुराना राग अलापना प्रारम्भ किया कि—"संतान क्रमागत आचरण और वैसे ही माता पिता के रजोवीर्य रूप शरीर पिंड से वह उच्च पर्याय में उच्च गोत्री नहीं बन सकता!" मैं पूछना चाहता हूं कि जब ऐसी

ही बात है तब 'ज्यों ज्यों गुणों का विकास होता है त्यों त्यों आत्मा विशुद्ध उच्च और पूज्य बनता जाता है' आपके इस पूर्व निर्णय में १ विशुद्ध २ उच्च और ३ पूज्य शब्दों से क्या प्रयोजन है ? एक ओर तो साधारण शुद्ध नहीं विशुद्ध—विशेष शुद्ध याने मन वचन काय से—शरीर और आत्मा से भी शुद्ध कह दिया। उच्च याने जातिनामक कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली मनुष्य जाति में उच्च कह दिया, पूज्य याने लौकिक जात्यादि स्तरों से ऊपर उठा हुआ एवं पारलौकिक क्षेत्र में भी परमगति की द्योतक पूज्यता को प्राप्त या पूज्य होनेवाला कह दिया और दूसरी ओर उसके उच्च गोत्री होने में—"सन्तान क्रमागत आचरण और वैसे ही माता पिता के रजो वीर्य रूप शरीर पिंड से वह उसी पर्याय में उच्च गोत्री नहीं बन सकता।" यह स्ववचन बाधित निर्णय दे दिया ! आचार के लिये जब वह आपके ही अनुसार अपने गुणों का विकास सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र से" कर सकता है तब माता पिता के रजो वीर्य की अशुद्धि क्या इतनी शक्तिशाली है जो रत्नत्रय की शक्ति को पराजित कर दे ? यदि शुद्धाचरण रखने वाले सदाचारी के गुणों का विकास केवल उसके माता पिता के रजो-वीर्य की अशुद्धि के कारण नहीं हो सकता तो पंडितजी ! फिर यह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र किस रोग की औषधि है ?

"स्वभावतो ऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥"

अर्थात् शरीर स्वभाव से अपवित्र है उसकी पवित्रता रत्नत्रय से होती है। इसलिये किसी के शरीर में घृणा न करो, उसके गुणों में प्रेम करो। इस तरह स्वभाव से अशुचि शरीर की रत्नत्रय से पवित्रता बताने वाले आचार्यों से क्या आप अधिक बुद्धिमान हैं ! निर्विचिकित्सा का यह पाठ। हँसी आती है पंडितजी ! आपके विवेक पर कि आप एक के माता पिता के रजोवीर्य को शुद्ध और दूसरे के माता पिता के रजोवीर्य को अशुद्ध मानते हैं। महाशय ! मैं तो यही समझा हू कि रज वीर्य चाहे किसी का भी हो वह

अशुद्ध धातु है जिससे बने शरीर के प्रति हम घृणा करते हैं—'नवद्वार बहे घिनकारी, अस देह करे किम यारी !' विद्वान् होकर भी रजोवीर्य के साथ अशुद्धता विशुद्धता का भेद करना आप जैसों के ही दिमाग की उपज है। रज-वीर्य के शुद्ध करने की बात करना कोयले को साफ करने की बात करना है। यदि यह असम्भव है तब यह भी असम्भव ही है। चारुदत्त चरित्र में वेश्या पुत्री वसन्ततिलका के आर्यिका होने का कथन है। सोचिये थोड़ा, एक तो वेश्या; दूसरे उसके साथ सभोग करने वालों का क्या ठिकाना है किस किस जाति के व्यक्ति होंगे जिनसे वसन्ततिलका उत्पन्न हुई। वेश्या का रज और व्यभिचारियों का वीर्य भी क्या आपकी दृष्टि में शुद्ध था? महोदय! एक बात और पूछता हू कि आत्मा तो सदा शुद्ध आप मानते ही हैं; रही शरीर शुद्धि, सो जब अपने अनुसार आप अपने माता पिता के शुद्ध रजोवीर्य से अपने को शुद्ध मानते हैं तब आपको अपवित्र वस्तु का स्पर्श या अपवित्रता के कार्य कर के किसी भी हालत में शरीर की बाह्यशुद्धि के लिये न तो प्रतिदिन स्नान करना चाहिये न प्रायश्चित्त विधान की बात ही करना चाहिये। परन्तु करते हैं तब तो आपका भी शरीर वैसा ही अपवित्र है जैसा हरिजनों का आप बतलाते हैं। पण्डित जी! मैं पहिले ही स्पष्ट कर चुका हू कि जाति कुल गोत्रादि की व्यवस्था आचरण के आधार पर मानी गई है। इस पर आप जो कुतर्क करेंगे उसका उत्तर इस पुस्तक में पहिले से मौजूद है।

पृष्ठ ५ से ८ तक—"बालक से बूढ़ा हो जाना शरीर परिवर्तन न होकर शरीर में अवस्था का परिवर्तन होना" बताते हुए "शरीर परिवर्तन उस पर्याय में कदापि नहीं होता, दूसरी पर्याय में ही होता है" यह आपने कहा है। तो पण्डित जी! बालक जब युवावस्था में आता है तब भी उसके हाथ, पैर, आंख, नाक, कान आदि सर्वांग उतने छोटे ही रहना चाहिये—आयु बढ़ती जाय परन्तु बालक को उतना ही रहना चाहिये जितना कि वह पैदा हुआ था। यदि उसके सर्वांग बढ़कर बड़े हो जावेंगे तो शरीर में

वर्तन ही तो कहलायगा, जो आपको इष्ट नहीं है। जब कभी कोई सदा धोती पहिनने वाला पण्डित कहीं पाजामा पहिनकर पहुँच जाता है तब लोग यही तो कहते हैं—"अरे भाई ! पण्डित जी ! यह परिवर्तन कैसा ! आज तो आप बिलकुल ही बदल गये" तो क्या उनके इन 'परिवर्तन' और 'बदल गये' शब्दों का अर्थ आप यह लगावेंगे कि कल धोती पहिननेवाले पण्डितजी जो थे वे मर गये, और वही तुरन्त जन्म लेकर बड़े होकर आज पाजामा पहिनकर आ गये ? यदि ऐसी ही आपकी इच्छा है तो कहिये। आपके धर्म शास्त्रों मे भी लिखा है—"मानव शरीर ऐसा अस्थिर है कि क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहता है। बचपन से जवानी आती है, तो वह भी टलकर बुढापा आ जाता है।" यदि इन शब्दों के साथ प्रयुक्त परिवर्तन का भी वही अर्थ दूसरा जन्म लेना आप लगाते हैं, तब कहना होगा कि बालक कभी जवान नहीं हो सकता क्योंकि उसे इस परिवर्तन के लिये मरना पड़ेगा तब कहीं जवान हो सकेगा, परन्तु स्मरण रहे माता के गर्भ से वह फिर बालक के रूप मे ही उत्पन्न होगा, १६ वर्ष के युवक के उतने बडे शरीरमें नहीं। इस तरह न कभी वह जवान हो सकेगा न बूढा। यहा परिवर्तन से तात्पर्य 'बदलते रहना' है, परन्तु वह बदलना अवस्था से क्रमशः होता रहता है। अतः अवस्था कारण है। अपने साथ शरीर मे इस तरह का क्रमिक परिवर्तन करना उसका कार्य है। एक कार्य की अनेक श्रेणी होती है। अनेक रूप मे कारण भी विभक्त होता है। आपने गलती यह की कि परिवर्तन को पूर्ण परिवर्तन ही के रूप मे माना। जब कोई कहता है "उसका क्या पूछते हो, उसमें तो ऐसा परिवर्तन हुआ कि उसकी हर बात, हर कार्य में परिवर्तन मालूम होता है ! जब वह यहा था आधा पागल सा मालूम पड़ता था परन्तु जब वहां से पढकर लौटा तो हर चीज में परिवर्तन ही परिवर्तन दिखाई देता है।" इस परिवर्तन को यदि आपके शब्दों के अनुसार समझें तो जितने परिवर्तन उसमें दिखे उनके लिये उसे हर दिन नित नये अवतार लेने पड़े होंगे ! और ऐसा ही करना पड़ा होता तो वह उसी रूप में आपके सामने आता ही कैसे ? इसका तात्पर्य यह कि परिवर्तन का यहां वह अर्थ नहीं जो आप पकड़ बैठे हैं। आपको ऐसी

अनेक घटनाएं समाचारपत्रों में पढ़ने को मिली होंगी कि अनेक बालक-बालिका हो गये, अनेक बालिकाएं-बालक हो गई ! तब क्या इस परिवर्तन में भी उन्हें निन नये अवतार लेने पड़े होंगे ? प० जी ! शरीर का परिवर्तन ही ऐसा है जो अवस्था का परिवर्तन देखने में आता है अन्यथा किसी को देखकर कोई यह कह भी न पाता कि अमुक व्यक्ति की क्या अवस्था (आयु) है।

पंडितजी ! आप जानकारी रखते हुए भी जाली जिज्ञासु बनकर अपनी *विद्वत्ता* दिखाना चाहते हैं। 'परिवर्तन' शब्द को पकड़कर तीन पृष्ठ काले किये और पृष्ठ १६ पर स्वयं लिख बैठे कि—"हिंसा मद्य मांसादि का त्याग करने कर उनकी आत्मा में *परिवर्तन* हो जायगा तो दूसरों का हृदय भी *परिवर्तित* होने को बाध्य हो जायगा।" आपके इन 'परिवर्तन' और 'परिवर्तित' दोनों शब्दों का यही अर्थ तो है जिसे समझाने के लिये इतना दिमाग पचाना पड़ा। यदि यही अर्थ है कि बिना दूसरी पर्याय के परिवर्तन नहीं होता तो फिर आप यहां भी केवल मद्य मांस का त्याग करने पर ही आत्मा और हृदय का परिवर्तन स्वीकार कर स्ववचनबाधित वक्ता क्यों बनते हैं ? प्रतीत होता है केवल कुतर्क करने के लिये आप बोल रहे हैं !

आप पहिले स्वीकार कर रहे हैं कि—"यह कौन कहता है कि हरिजन व्रती नहीं हो सकता ?" परन्तु अपने लिखे इस लेख को मिटाने के लिये आप तुरन्त ही बाद में लिखते हैं कि—"परन्तु शारीरिक योग्यता से ही आत्मिक योग्यता प्राप्त होती है इसलिये जितनी योग्यता उस शरीर में होती है वहीं तक वह बढ़ सकता है, आगे नहीं।" इस इधर-उधर भटकने वाले आपके बुद्धिवाद को हम क्या कहें ? जिस तरह ब्रह्मचर्य प्रतिमा पालनेवाले को ब्रह्मचारी कहते हैं यदि उसी तरह बारह व्रत पालने वाले व्रती को आप व्रती कहते हैं, तो पंडितजी व्रत प्रतिमा तो दूसरी प्रतिमा है इसके पहिले ही *प्रथम* दर्शन प्रतिमा में ही वह दिन में एक बार नहीं तीन बार मन्दिर में दर्शन करने का अधिकारी अपने आप

हो गया। शारीरिक योग्यता का बन्धन आप लगाते हैं तो वह शारीरिक मानसिक कार्य करने में तो समझ में आता भी है कि जैसा संगठित शक्तिशाली शरीर होगा वैसा परिश्रम कर सकेगा, परन्तु आत्मोन्नति के क्षेत्र में वह लागू नहीं होता। जिन्हें आज के लोग आधुनिक मनु कहते हैं डा० श्री अम्बेडकरजी, उनकी योग्यता को तो आप जानते ही हैं। फिर आपके पास योग्यता नापने का ऐसा कौनसा माप है जिससे आप योग्यता के अनुसार निर्णय दे सकने में समर्थ हो सकें। आगे चलकर पृष्ठ ६ पर "हरिजन न सम्यक्ती हैं, न सदाचारी ही हैं" यह लिखकर तो आपने और भी कमाल दिखाया! जिन्हें आपने "व्रती हो सकते हैं" यह कहा, उन्हें एक क्षण बाद ही 'असम्यक्ती' और 'असदाचारी' कैसे कह दिया? यहां आपको सुस्थितिकरण नाम" आदि पचाध्यायीकार का स्थितिकरण अंग छोड़कर स्वामी समन्तभद्र को क्या "दर्शनाचरणाद्वापि" करके स्मरण करना पड़ा? आपने भोली जनता को ठगना चाहा है परन्तु उसका भी विस्तृत विशद विवेचन आप करें तो वहीं पहुँचेंगे जहाँ से आप बचना चाहते हैं! आपके अनुसार जैनधर्म की महिमा में जब यह कहा जाता है कि पहिले सभी लोग जैन धर्म पालते थे तब हरिजन भी जैन धर्म के अनुयायी हो गये। यदि उन्हें अपनी आजीविका के लिये, समाज सेवा के लिये सफाई का काम करना पड़ा, तो क्या तत्वार्थ का श्रद्धान भी छूट गया? विवश का गई सफाई क्रिया से उनका सभी आचरण-चारित्र भ्रष्ट हो गया? यदि अब भी किसी तरह आपके अनुसार वे तत्वों का श्रद्धान भूल चुके, चारित्र भी छोड़ चुके तो क्या उनका उद्धारकर स्थितिकरण करना अनुचित है? आवश्यक नहीं है? 'जैन कुल' 'श्रावक कुल' आदि शब्दों की भरमार भी आपने खूब की है। कृपया ग्रन्थ का नाम लिखिये जिसमें जाति, कुल, गोत्र और वंश की उत्पत्ति और इतिहास हो। कोरे अनादि निधन कहने से काम न चलेगा।

पृष्ठ ६ से ११ तक आपने एक ओर तो वर्णी जी को उपदेश का

उद्धार का अनधिकारी बताया है, दूसरी ओर जैनधर्म छोड़ने वाले जैनियों के उद्धार के लिए वर्णी जी से ही क्रमिक सुधारक योजना को सक्रिय करने के लिए "उद्धार बातों से नहीं होता", प्रबल प्रेरणा करते हुए आगमोक्त प्रक्रिया के प्रयोग करने का सुझाव दिया है। परन्तु प० जी! क्या आपने कभी यह भी सोचा कि ऐसी धर्मकी ठेकेदारी देखकर ही लोगों ने धर्म छोड़ा है! जब बापू ने महावीर की वाणी को स्पष्ट कहा—"धर्म सेवन का सबको समानाधिकार है" तब आचार्य महाराज ने कहा—"हरिजनों को जैन मन्दिरों में जाने का समानाधिकार नहीं! इसलिये यदि आगमोक्त प्रक्रिया से सबको सुधारने की सम्मति आप देते हैं तो उसका वर्णी जी स्वागत करते हैं परन्तु सोच लीजिये सुधार का नम्बर जब धर्माचार्य, पंडित और सभा पन्थी नेताओं से लगेगा तब सब किया भूल जायगी। स्वागत मंहगा पड़ेगा! प्रयत्न भी बहुत करना पड़ेगा और सफलता भी न मिलेगी। परन्तु यदि सबसे गये बीते हरिजन सुधर गये तो उन्हें सुधरा देखकर शर्म खाने वाले बिना किसी प्रयत्न के सुधर जावेंगे। इसलिए कलियुग में अब यही क्रम और यही उपाय ठीक मालूम पड़ता है। जो बेशर्म है उन्हे न प्रक्रिया सुधार सकेगी, न क्रमिक सुधार। जिन्हें आप धर्म छोड़ने वालों का फतवा देते हैं—मैं सच कहता हूँ व आप जैसे पण्डितों से अच्छे हैं। आप आज सुधर जाओ तो उनकी ओर से कल ही सुधर जाने का आश्वासन हम दिलाते हैं। गवाह?— आपकी आत्मा पर आपको विश्वास हो न हो पर हमें है अत निश्छल निर्णायक न्याय दृष्टि से पूछ देखिये।

पृष्ठ १२ पर आपने आजके शासकों को रहस्यवाद छायावाद में गालियां दीं! पृष्ठ १३ पर जैन मन्दिर में दर्शन करने वालों के भी हृदय में वीतरागता जाग्रत होने का अभाव बतलाते हुए वर्णी जी, पर अपने आपको विवेकी साबित कर, हवी हसने का दु'साहस किया है! पं० जी! महोदय जब आपके दिमाग पर वैदिक धर्म की छाप पड़ी है तब धर्मान्धिता प्रदर्शन के लिये शासकों को गाली देना स्वाभाविक ही है। दिल्ली के पागल जो होते हैं वे सड़क किनारे पं० नेहरू को देखकर भी वही हसी हसते हैं जो

किसी साधारण व्यक्ति को देखकर। रही दैनिक दर्शन करने वालों के हृदय में वीतरागता जागृत न होने की बात—सो आपके जैसे बड़े-बड़े बाधक बीच में न आवें तो वे दिन नजदीक होंगे जब सैकड़ो भगी जैन बन जावेंगे।

"भंगियों को—वह हिंसक व्यवसाय छुड़ा देते जिनसे प्रतिपल जीव हिंसा सम्पन्न होती हैं।" पं० जी! यदि शौचालय झाड़ने में होने वाली हिंसा को ही आप त्याज्य मानते हैं तो खुशी से बन्द कराइये, परन्तु आपके शहर के पास जंगल भी तयार करा लीजिये—जहाँ लोटा लेकर सारा शहर शौच जा सके। और यदि हिंसा समीको त्याज्य है तो क्षमा कीजियेगा सबसे पहिले उन सेठों से कहिये जो अपने मिलों में प्रतिदिन हजारों मन गाय भैंस की चर्बी मँगाने का आर्डर देते हैं। फिर भी आप उन्हें आरम्भी हिंसा आदि कोई नाम की ओट में छोड़ते हुए धर्ममूर्ति तक कह देते हैं।

पृष्ठ १४ से १५ तक आपने जो लिखा "दिमाग का दिवाला ही निकाल दिया"। आप लिखते हैं—'गांधीजी का.............धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था, उनकी..............इस राजनैतिकता में धार्मिक भावना का अंश भी न था। " ....मनुष्य की अहिंसा के अतिरिक्त और प्राणियों की अहिंसा उनके हृदय में नगण्य थी।..............वास्तव में गांधीजी की अहिंसा राजनैतिक थी तो सत्य भी उसी ढंग का था। गांधीजी के काल में अहिंसा और सत्य का कितना प्रचार था? लोग उससे कितने प्रभावित हुए?" कहते हुए पंडितजी ने न केवल बापू के सिद्धान्तों पर अपितु बापू की दिवंगत आत्मा पर भी वार किया है।

हम बापू के शब्दों में ही उनके पवित्र सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हैं। आप जरा गौर से पढ़ें:—

"सत्य" शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति।

सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। सत्य के शाश्वत् होने के कारण आनन्द भी शाश्वत् होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

"इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जाने पर दूसरे सब नियम सहज में हमारे हाथ लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।"

साधारणतः सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है: लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को सम्पूर्णतः समझने वाले के लिए जगत में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता।

सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है जिसमें कायरता की गुँजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीने का मंत्र है'।

—(बापू के 'मंगल प्रभात' से)

अहिंसा—

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खाँड़े की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर

पर सावधानी से नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

इसीसे अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आने वाले संकटों को सहे या उसके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े ? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है; सत्य दूर हटता जाता है।

यह अहिंसा वह वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आये, बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मन्त्र जपना चाहिये—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्य रूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है वह हमें इसके पालन का बल दे।

—(बापू के 'मंगल प्रभात' से)

बापू जब यरवदा जेल में थे एक दिन उनका रुई पिंजने का धनुआ खराब हो गया। बापू ने काका कालेलकरजी से कहा—"धनुआ की तांत

पर जरा नीम के पत्ते रगड़ोगे तो यह बराबर काम देगा। सामने ही नीम का पेड़ था। काका सा० उठे और झट दस-बीस पत्ते तोड़कर ले आये। लेकिन बापू ने जब इतने पत्ते देखे तो काका साहब से कहा तुम्हें दो पत्तों की ही जरूरत थी, फिर इतने सारे पत्ते क्यों तोड़ लाये ? इतने पत्ते तोड़कर तो तुमने उस नीम का अपराध किया है।"

एक बार काका सा० ने बापू को कूचा बनाकर नीम का एक दातुन दिया। बापू ने दातुन किया और फिर वह दातुन देते हुए काका से कहा—"इस दातुन का कूचा तोड़कर रखलो, और कल फिर मुझे यही दातुन देना।" काका सा० ने कहा—"आप ऐसा क्यों करते हैं ! नीम के पेड़ तो यहाँ बहुत हैं।" बापू ने कहा—"जब तक यह दातुन चले तब तक उसका उपयोग न करना उस पेड़ का अपराध करना है।"

यह दो उदाहरण ही यहाँ यह बताने को पर्याप्त हैं कि बापू की अहिंसा मानव तक ही सीमित नहीं; अपितु सूक्ष्म जीवों तक व्याप्त थी।

पृष्ठ १६ पर आपने आजके जैनियों की जिस क्रिया का चित्रण किया है उसे देखते तो हरिजनों की क्रिया में (शौचालय साफ करना आदि छोड़कर) उनसे कोई अन्तर नहीं रह जाता। फिर भी आप अपने को बड़ी ऊँची नाक वाला बताते फिर रहे हैं यह कौनसी बुद्धिमानी है ! इस प्रकरण के अन्तिम पृष्ठ १८ तक आपने 'धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है' यह स्वीकार करते हुए वर्णीजी से हरिजन के घर भोजन करने की बात पूछी है। एक तो एक महात्मा से ऐसा प्रश्न पूछना ही अनुचित था, दूसरे आपने यह भी न सोचा कि क्या हम जिसे स्पृश्य समझते हैं, उत्तम योग्यता और उत्तम परिस्थिति वाला समझते हैं ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और स्पृश्य शूद्रों के यहाँ भोजन करते हैं ? नहीं करते; तब वर्णीजी से पूछना क्या योग्य है ! वर्णीजी तो उस क्षुल्लक पद में हैं जहाँ यदि जैनधर्मानुकूल या परिस्थिति न हो तो वे आप जैसे विशुद्ध उच्च

श्रावक कहे जाने वाले के यहां भी भोजन न करेंगे, हरिजनों की बात छोड़िये। पहिले आचार्य महाराज से पूछिये कि जिन्हे वे स्पृश्य समझते हैं, मन्दिर आने का अधिकारी समझते हैं ऐसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और स्पृश्य शूद्र के यहां यदि वह आगमोक्त प्रणाली से शुद्ध भोजन बनावें तो क्या आहार ले सकेंगे ? यदि नहीं, तो यह आवश्यक नहीं कि जिसके उद्धार की बात कही जाय उसके यहां आहार करना अनिवार्य है जैसा कि आप वर्णीजी को बाध्य कर रहे हैं। जहां पराजय दिखने लगी वहां ऐसे वे सिर पैर के प्रश्न पूछना प्रारम्भ किया जाना बुद्धिवाद के दिवालियापने का नमूना है।

"वैश्य कौन, शूद्र कौन ?" पर किये गये—

द्वितीय विवेचन का उत्तर—

जैन दर्शन में पं० मक्खनलालजी ने आगम प्रमाणों के जो मनमाने उल्टे सीधे अर्थ लगाये उससे वर्णीजी ने लिखा—"आगम की बात को सादर स्वीकार करता हूँ परन्तु आगम का अर्थ जो आप लगावें वही ठीक है, यह कैसे कहा जा सकता है ?" उदाहरण मे दी गई कुन्दकुन्द स्वामी की—"तं एयन्त विहत्त" वाली गाथा से वर्णीजी का यह अभिप्राय था कि—"कुन्द कुन्द जैसे निर्मल ज्ञानी, प्रामाणिक वक्ता, सर्वमान्य पूज्याचार्य भी अपनी लघुता प्रगट करते थे परन्तु आज यह युग है कि जो जानते नहीं वह भी इस बात पर तुल जाते हैं कि जो मैंने कह दिया, जो मैंने लिख दिया, वही मान्य है, वही सत्य है। परन्तु मैं (वर्णीजी) जो लिख रहा हूँ सम्भव है भूल भी हो तो उसे न केवल शिष्टाचार के नाते अपितु वस्तुतः छल नहीं समझना।" कितनी महानता है वर्णीजी जैसे गम्भीर ज्ञानी साधु के इस आशय मे जिसका अभिप्राय हमारे पंडितजी ने उल्टा समझकर पुस्तक के ३ पृष्ठ काले किये। तथा समाज को भड़काने के लिये वर्णीजी को धमकाया है कि—"इस प्रकार आप समस्त आगम को संदिग्ध और अप्रामाणिक ठहराते हैं सो कहां तक सह्य

हो सकता है !" पंडितजी ! इससे तो विवेकी समाज भड़कने वाला नहीं। जिन आगमों से आपके गुट सरदार पं० मक्खनलालजी ने हरिजन मन्दिर प्रवेश निषेधक प्रमाण दिये थे उन्हीं से तो सम्पादक जैन मित्र ने समर्थक प्रमाण देकर बता दिये, आगे भी हम "जैन धर्म में शूद्रों का स्थान" शीर्षक लेख सामने ला दे रहे हैं, "हरिजन जन मन्दिर जा सकते हैं" शीर्षक लिख भी चुके हैं अब बताइये इन समर्थक निषेध प्रमाणों से भरे आगम में से आप किसे सत्य और किसे असत्य मानेंगे ?

बड़े आगम भक्त हैं आपके आचार्यश्री और आप जैसे उनके भक्त पडित एवं समाज, तो महापडित राहुल सांकृत्यायनजी से लड़ो, उन्होंने अपने "सिंह सेनापति" में भगवान महावीर को मांस भक्षी, तक कहा है ! 'नंगटा' जैसे असभ्य शब्दों का प्रयोग महावीर के प्रति एक स्त्री पात्र से कराया है। राहुलजी की यह पुस्तक छह वर्ष में ३–४ बार छप चुकी, बाजार में धड़ाधड़ बिक रही है। आगम भक्ति प्रदर्शन करना है तो पहिले देव के अपमान को मिटाने का प्रयत्न करो।

पृष्ठ २४ से २६ तक आपने अपनी "वर्ण विज्ञान" पुस्तक को एक सर्वज्ञोपदेश की तरह मानने के लिये वर्णीजी को बाध्य करते हुए १ वर्ण व्यवस्था अनादि है, २ अस्पृश्य कुल में पैदा हुए पुरुष में परम्परागत अशुद्ध रजोवीर्य रूप शरीर के कारण आत्मा में वह विशुद्धि आ ही नहीं सकती, ३ पूर्वजों की सस्कारजन्य अशुद्धि सन्तति में चली आती है, यह तीन बातें कहीं हैं। उत्तर यह है कि १ वर्ण व्यवस्था को अनादि सिद्ध करने वाले आप जैसे पंडित प्रणीत "वर्ण विज्ञान" की पोल तो "जैन समाज के दो आन्दोलन" पुस्तक में खोली जा चुकी, इसके सिवाय इसी पुस्तक में मैं भी लिख चुका और विशेष पोल खुलवाना ही है तो ज्ञानोदय के अंक २, ४, ५, ६, ७ तो कम से कम देख ही डालिये। बोध लग जायगा।

"शूद्रों के प्रति कृतज्ञ बनिये" पर किये गये—

तृतीय विवेचन का उत्तर—

पृष्ठ ३१ पर पंडितजी ने लिखा है कि—"दयालु वही होता है जो निष्काम दया करता है। सच्चे दयालु तो संसार से विरक्त, वीतराग, निर्ग्रन्थ साधु ही होते हैं।" आगे जाकर आप पृष्ठ ३६ पर लिखते हैं कि—"सच्चे दयालु और परोपकारी तो परम दिगम्बर गुरु आचार्य शांतिसागर सरीखे महात्मा ही हैं! जिन्होंने सांसारिक जीवों के लिये सब कुछ छोड़ दिया है। उनके त्याग में स्वार्थ की भावना या प्रवृत्ति नहीं।" ऐसा तो हम भी मानते हैं, परन्तु पाठक! देखिये दयालु के जो ४ लक्षण पंडितजी ने पहले बताये थे वे अब कैसे गायब हुए! 'संजद' पद काटकर कलिकाल सर्वज्ञ बनने का इच्छुक निष्काम कैसा? हरिजन मन्दिर प्रवेश और जैन हिन्दू जैसे संसार के झगड़ों में पड़ने वाला संसार से विरक्त कैसा?

पृष्ठ ३१ से ३५ तक आपने लिखा है कि—"हरिजन जो सफाई आदि करते हैं वह उपकार बुद्धि से नहीं करते. यह उनकी आजीविका है·········अगर भंगी लोग जूठन लेना छोड़ दें तो········इससे घाटे मे वे ही रहेंगे।·········संसार में कोई किसी के लिये नहीं है, किन्तु सभी अपने स्वार्थ के लिये हैं।" पंडितजी, यदि हरिजनों की सेवा केवल आजीविका के लिये मानते हैं तो आप भी वेतन पर आधा काम करना चाहकर भी ऊपर से समाज से धन्यवाद पाने की आशा और क्यों रखते हैं? भंगी लोग जूठन लेना छोड़ देंगे तो उनकी हानि की चिन्ता वे करेंगे परन्तु आपसे पूछना यह है कि आप किसी प्रीतिभोज में खाने के बाद फिर उनकी तरह बाहर पत्तल डालने जाने को तैयार रहेंगे या नहीं? यदि सबकी तरह आपका भी यह

सब प्रयत्न स्वार्थ के लिये है तो स्पष्ट कीजिये। मैं तो कहूंगा कि यदि ऐसे स्वार्थ पर ही आप यह इन्द्रजाल बुन रहे हैं तो क्षमा कीजिये, पण्डितपद्म को कलंकित न कीजिये, यह जघन्य वृत्ति छोड़िये।

पृष्ठ ३६ से ३८ तक आपने हरिजन मन्दिर प्रवेश-निषेध और जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने का प्रयत्न किया है। जिसका उत्तर पहिले "जैन समाज के दो आन्दोलन" और इसी पुस्तक में भी दिया जा चुका है।

पृष्ठ ४० पर आपने यह बताया कि—"जैन साधु राजनीति या लौकिक चर्चाओं में भाग नहीं लेते।'''''''''यह झगड़े तो राजनीति के मामलों मे पड़ने वाले लोगों के लिये हैं।" इससे तो आप स्वय खुले रूप में कहना चाहते हैं कि हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल जैसे राजनीति की चर्चा में भाग लेने वाले आचार्य महाराज जैन साधु भी नहीं कहला सकते।

आगे पृष्ठ ४१ पर आप लिखते हैं कि—"यदि आप राजनैतिक महात्मा बनना चाहें तो इन झगड़ों में पड़िये।" समझ में नहीं आता—यह सम्मति आचार्यश्री को ही क्यों न दी गई? रोगी को दवा न देकर निरोग को देना कौनसी बुद्धिमानी है? यदि हरिजनों के सम्बन्ध में बोलना, जैन हिन्दू के सम्बन्ध में बोलना ही राजनीति है तो आचार्यश्री भी तो यही बोल रहे हैं। अन्तर केवल यह है कि एक समर्थक है दूसरा विरोधक। चर्चा एक ही है। फिर वर्णीजी तो अभी उत्कृष्ट श्रावक ही हैं जब कि आचार्यश्री आचार्यश्री हैं। वर्णी जी का बोलना तो किसी तरह ठीक भी है परन्तु एक सघ का अधिपति जिसे धर्म का नेतृत्व करना चाहिये राजनीति में पड़े, यह तो समझ में नहीं आया कि वे फिर भी धार्मिक महात्मा कैसे बने रहे?

आचार्यश्री शास्त्रों में से शब्द के शब्द काटकर शास्त्र नष्ट कर रहे हैं। फिर भी धार्मिक नेता हैं! वर्णीजी इस तरह शब्द काटकर शास्त्र

भ्रष्ट करना रोकते हैं तो वे धार्मिक महात्मा नहीं रह जाते। यह, कैसा पांडित्य प्रदर्शन है ?

अस्तु, वर्णी जी को यदि देश के बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय इस तरह धार्मिक महात्मा न कहा जाय तो उन्हें कोई खेद नहीं होगा। इस तरह यदि गांधी जी की तरह उन्हें अब राजनैतिक महात्मा बनने का अवसर प्राप्त होता है तो समाज के समुज्ज्वल सौभाग्य के लिये ही है।

आगे चलकर आपने इसी पृष्ठ पर लिखा है कि—"भंगियों के साथ प्रेम प्रदर्शित करने के लिये आपको उनके हाथ से भोजन भी करना पड़ेगा।" परन्तु आप ४०वें पृष्ठ पर पहिले ही लिख चुके हैं कि—"हरिजन हमारे ही बन्धु हैं, कोई दूसरे नहीं।" तब पं० जी अब शेष रह ही क्या गया ? आपके यहां जब भोजन कर लिये तब आपके भाई (हरिजन) के यहां भोजन किये बराबर ही तो हो गया ! पाठको ! पं० जी ने बात कही तो नीति की थी परन्तु मियां के पैर मियां के गले पड़ गए, बहुत खराब हुआ, जिसका आपको भी दुःख हो तो ऐसा सोचकर सन्तोष कीजिये कि ऐसी व्यर्थ बकवास का ऐसा ही फल उचित है।

"शूद्र भी धर्म धारणकर व्रती हो सकता है" पर किये गये चतुर्थ विवेचन का उत्तर—

पृष्ठ १६ पर पहिले आप स्वीकार कर चुके कि "असली धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं है", परन्तु ४६वें पृष्ठ पर आप फिर लड़खड़ा गये और लिख मारा कि "जब पैतृक सम्पत्ति होने पर भी अयोग्यपुत्र को सम्पत्ति का पूर्णाधिकार अनुचित है तब जिन लोगों में पैतृक या वंश परम्परागत धर्म की आस्था नहीं है उनको उसका पूर्णाधिकार कैसे हो सकता है ?" इससे तो यही सिद्ध होता

है कि पुत्र अयोग्य हो तभी वह पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं। वहाँ पुत्र एक व्यक्ति होने से कुटुम्ब या पिता उसकी योग्यता को तुरन्त जान सकता है परन्तु यहां हिन्दू जाति के २०, २५ प्रति शत मनुष्यों की योग्यता अयोग्यता नापने का कौनसा माप आपके पास है ? आप कहें वही रज वीर्य की अशुद्धि, तो हठवाद को छोड़ शास्त्रों के पन्ने पलटिये—कितनी अस्पृश्य शूद्र वेश्याएं तक आर्यिका हो चुकीं ? कितनों ने मन्दिर बनवाये आपको सहज में मालूम हो जायगा। देखो "जैनधर्म में शूद्रों का स्थान" शीर्षक इसी पुस्तक में। देखो "पतितोद्धारक जैनधर्म" और "जैन धर्म की उदारता"। धर्म की आस्था न होने की बात जो आप कर रहे हैं सो पहिले पृष्ठ १६ पर अपने समाज की दशा जो आप लिख आये हैं उसे फिर याद कीजिये कि— "जैन समाज की ही दशा आज देखिये जितना शुद्ध आचरण पहिले था क्या उतना आज है ? रात्रिभोजन, अनछना पानी आदि का उपयोग तो पर्याप्त मात्रा में होने लगा है। और तो क्या मद्यपान तक लोग करने लगे हैं। मधु सेवन और कन्दमूलादि भक्षण की तो कथा ही मत पूछिये।" समाज की इस दुश्चरित्रता के चित्रण के बाद भी आप उनमें धर्म की आस्था देख रहे हैं ! और वैसे ही आचरण वाले हरिजनों को आप धर्म की आस्था से शून्य कह देते हैं। क्योंकि अब आचार्य महाराज की भूल और अपने पोंगा-पन्थ का समर्थन जो करना है। पं० जी ! याद रखो आपके शास्त्रों में जिस आचरण का विधान है आपके ही शब्दों में स्पष्ट हो गया कि आपका समाज उसे कितना मानता है ? जबकि हरिजनों के यहां ऐसा करने की मनाई करने वाले शास्त्र एक भी नहीं। जो जानबूझकर गलती करता है, धर्म की अवहेलना करता है उससे वह कम अपराधी है, अधिक अच्छा है— जो बिना जाने गलती करता है। इसलिये यदि धर्म में आस्था न रखने के कारण धर्म से वंचित रखने का विधान आप बनाते हैं तो पहिले अपनी इस समाज से ही प्रारम्भ करें, यही ईमानदारी होगी। आपने यह बिलकुल ठीक लिखा है कि—'आज जो धर्म के नाम पर असंख्य प्राणियों का

अकल्याण हो रहा है इसका कारण भी अपात्र लोगों के हाथ में धर्माधिकार जाना ही है।" इतिहास इसका साक्षी है कि जैन धर्म जब तक क्षत्रियों के हाथ में रहा बहुत समुन्नत रहा। परन्तु जब से वैश्य वर्ग और विशेषकर आप जैसे पण्डितों के पाले पड़ा तब से ह्रास ही होता आया।

पृष्ठ ४५ पर प्रशम संवेग आदि गुणों में हरिजनों की परीक्षा की बात कही तब क्या मैं पूछ सकता हूं कि अपनी प्यारी जैन समाज के जो लक्षण आप पृष्ठ १६ पर काले अक्षरों में लिख चुके हैं उसमें आपने कैसे, कहां तक, कितने गुण पाये? आपने जो लिखा कि—"प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भावों के बिना मन्दिर और परमशान्त वीतराग दिगम्बर निर्ग्रन्थमूर्ति से उन्हें क्या लाभ मिल जायगा?" मैं पूछता हूं जब तक ऐसी पावन शान्तिच्छवि के दर्शन न होंगे यह गुण भी हृदय में कैसे जाग्रत होंगे? भूलिये मत पं० जी! मूर्ति का दर्शन हम इसलिये करते हैं कि उनकी वीतराग दिगम्बर निर्ग्रंथ मुद्रा से हममें वे *प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य जैसे कल्याणकारी गुण जाग्रत हों* जिनसे हम भी उस वीतराग दिगम्बर निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त करें। यदि यह नहीं मानते तब बताइये मूर्ति दर्शन का और दूसरा महत्व क्या है?

पृष्ठ ४६ पर आप लिखते हैं कि—"श्री राजभोज आदि का स्पष्ट कहना है कि हमें तो राजनैतिक अधिकार चाहिये, मन्दिरों और मूर्तियों की आवश्यकता नहीं।" क्या आप बतावेंगे श्री राजभोज आदि में से किस नेता ने ऐसा कब, कहां कहा? या पत्र में प्रकाशित हुआ? किसी के नाम पर ऐसी अफवाह उड़ाकर समाज को धोखे में मत डालिये। प्रमुख हरिजन नेता डॉ० श्री अम्बेडकर के वक्तव्य और विचारधारा के संग्रह साहित्य को पढ़िये, तो पता लगेगा कि आप किस तरह हवाई गप्पें छोड़ रहे हैं? और यदि आपका कहना सत्य ही मान लें तो जब वे मन्दिर में आना ही नहीं चाहते तब विरोध के लिये ही क्यों आचार्य श्री के साथ आप लोग भी अखाड़े में उतर आये हैं? आपने समाज को

तो बिलकुल मिट्टी की मूर्ति समझ बहकाने का प्रयत्न किया है—"आज ये मन्दिर में जाने के लिये रूठ के बैठे तो कल इस बात के लिये रूठ जावेंगे कि अपनी औरतों को हमें दे दो, नहीं तो काम बन्द कर दिया जायगा।" धन्य है पंडितजी! आपकी बहादुरी को धन्य है! इधर एक ओर कहते हो मन्दिर में भी वे आना नहीं चाहते तो उधर कहते हो वे औरतों को रूठ जावेंगे। मैं कहता हूं क्या आप जिस तरह हरिजन मन्दिर प्रवेश-निषेध जैसे कार्य को लड़ रहे हैं—उस तरह औरतों की मांग के समय क्या औरत बन घर में बैठ जावेंगे, या लड़ने को तैयार होंगे? फिर चिन्ता करें वे, जिन कायरों में ऐसी औरतों की मांग के समय मांग करनेवाले के मुँह के दाँत तोड़ने की ताकत न हो।

पृष्ठ ४० पर आपने एक बात बहुत अच्छी पूछी, पर गलती यह हुई कि वह आचार्यश्री से पूछना थी और पूछ बैठे वर्णी जी से! आपने पूछा है कि—"जो व्यक्ति इस तरह का डर दिखलाकर कोई काम करना चाहता है तो क्या उसमें धार्मिक भावना का अंश भी हो सकता है।"[१] एक डाकू-दल पिस्तौल या अन्य घातक शस्त्र दिखलाकर माल लूटता है तो क्या उसे नंचित कहा जायगा?[२] एवं जो प्राणों से डरकर आगे होकर माल सौंप देता है तो क्या वह दाता त्यागी या परोपकारी कहा जा सकता है?"[३] पंडितजी! आप तो ठहरे ठहाग्रही! इसलिये आपकी बात तो मैं नहीं करता परन्तु विवेकशील न्यायी समाज के सामने आपके प्रश्नों को स्पष्ट करते हुए मैं इस तरह पूछूँ तो किस तरह के उत्तर मिलेंगे देखिये—

१—आचार्य महाराज यदि अपने बलिदान का भय दिखलाकर हरिजन मन्दिर प्रवेश निषेध जैसे राष्ट्रीयता घातक कार्य को करना चाहते हैं तो क्या उनमें धार्मिक भावना का अंश भी हो सकता है?

उत्तर मिलेगा—"नहीं! कभी नहीं!!"

२—अनशन का शस्त्र दिखलाकर यदि आचार्य महाराज हमारे

राष्ट्र धर्म को मेंटना चाहते हैं, राष्ट्रीय भावनाओं को समाप्त करना चाहते हैं तो क्या उसे उचित कहा जायगा ?

उत्तर मिलेगा—"नहीं ! कभी नहीं !!"

३—जो समाज आचार्य श्री के बलिदान को समाज पर हत्या-दोष होना समझ उससे भयभीत होकर अपने उदार धर्म को सौंप देता है, 'जैन धर्म प्राणीमात्र का है'—यह जानते हुए भी, मानते हुए भी आचार्यश्री जो कह रहे हैं वह ठीक है, विवश कह देता है तब क्या उसे विवेकी या सच्चा धर्म श्रद्धानी कहा जा सकता है ?

उत्तर मिलेगा—"नहीं ! कभी नहीं !!

इसलिये जो युक्ति आपने वर्णी जी को बतलाई वह आचार्यश्री को बतलावे कि—"धर्म का प्रचार इस ढंग से होना चाहिये कि किसी की डाकूपन की ओर प्रवृत्ति करने की भावना न हो।"

पृष्ठ ५१ पर पंडितजी ने अपने ननिहाल के बूढ़े भंगी चंद्रानाना के सम्बन्ध में लिखा है कि—"जब वह मेरे घर आता तो मां से मिलकर जाता— मेरी मां उसे रोटी खाने को आग्रह करती तोभी वह यह कहकर नहीं खाता था कि बेटी का कैसे खाऊँ ? कितनी मानवता थी ? आज वह मानवता कहाँ है ?" धन्य है पंडितजी ! धन्य है !! उत्तर यह है कि जिस भंगी को आपकी माता भोजन देना चाहती थी उसे आप दर्शन ज्ञान और चारित्र के भोजन देना तो दूर रहा; दूर से दुत्कारते हैं ! जो आपकी मां को बेटी समझता था उसकी जाति के प्रति ऐसी अनिष्ट की आशङ्का करते हैं कि वह हमारी औरतें मांगने लगेंगे ! कितनी दानवता है ? आज वह मानवता आप जैसों के ऐसे दुष्कृत्यों से जीवित भी मर चुकी है । आगे आपने लिखा कि—"आज तो प्रेम और मानवता के नाम पर अछूत सहभोज में अछूतों तक का लोग खा जाते हैं ।" पंडितजी ! जरा अपने को देखो—आपकी ही पार्टी के विशुद्ध दिगम्बराम्नायी दि० जैन महासभा के नेताओं ने राष्ट्रपति के

अभिनन्दन समारोह में होटल से चाय पार्टी का प्रबन्ध किया था, जिसमें जाति-पांति छुआछूत का कोई भेद नहीं रहता। जैन सन्देश ने खरी चपत भी चौंटा, फिर भी अकल न आई कि वही बात दूसरों में बुराई के रूप में देख रहे हो जो अपने लिये अच्छाई समझते हो! कानी अपना टेंट नहीं देखती, दूसरी की जरा सी फुली देखने बैठती है। पंडितजी! अगर याद होगा तो अपने को सुधार लोगे—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिल्यो कोय।
हृदय टटोला आपना, मुझसे बुरा न कोय॥

पृष्ठ ५२ पर आपने वह वृत्ति प्रदर्शित की है जिसे श्मशान में श्रुतालोपदेश कहा जाता है। अस्तु, हद कर दी है प० जी! आपने यह लिखकर कि—"धर्मग्रन्थों को उनके टट्टी पेशाब लिपटे हाथों में देने से धर्म होगा या अधर्म? यदि आपके हृदय में देवगरुगुरु के प्रति आस्था नहीं है तो आप उनको टट्टी पेशाब तथा भंगियों के बगे में रखिये।" देवानां प्रिय पं० जी! बाना की सन्मार्ग प्रचारिणी समिति द्वारा रखे गये नियम शायद जैन पत्रों में आपने नहीं पढ़े कि मन्दिर प्रवेश में हरिजनों को किस तरह जैन समाज शुद्धि सफाई और आगम के नियमों को पालना होगा। वर्णी जी ने भी वैसे ही नियम बताये हैं जिनसे १२ वर्ष से बिना धुला ऊनी कोट या वर्षों से बिना धुली रुई की भरी बंडी पहिनकर प्रवचन करने वाले आप जैसे पण्डितों से शुद्ध कपड़े, स्वच्छ शरीर होकर मन्दिर आने वाले भंगी को आप भी अच्छा कहेंगे।

पृष्ठ ५३ पर "मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्" आदि श्लोक का उल्लेख करते हुए जो महात्मा का लक्षण किया है वह तो शास्त्र-सम्मत है परन्तु आपने उससे जो चोट वर्णी जी पर करनी चाही है वह आचार्यश्री पर लग बैठती है। आपने लिखा है कि—"महात्मा वे होते हैं जिनका मन वचन और काय प्रवृत्ति से समान होता है। मन में अन्य, वचन में अन्य, कार्य अन्य रखने वाले दुरात्मा होते हैं।" षट्खण्डागम की जब

ताम्र लिपि होना प्रारम्भ हुआ तभी आचार्यश्री ने सोचा कि 'संजद' पद अलग कर देना है। लेकिन, यह बात सम्पादक पं० खूबचन्दजी से उस समय नहीं कही गई कि हमारा विचार ऐसा है, क्योंकि कहते हैं तो शायद है वे इससे काम छोड़ दें, सम्पादन अधूरा रह जाय ! इसलिये जब तक कार्य पूरा नहीं हुआ तब तक मन में अन्य वचन मे अन्य रहा परंतु जैसे ही कार्य पूर्ण हुआ वैसे ही कहा ६३वें सूत्र से 'संजद' पद अलग कर उस ताम्र पत्र को फिर खोदो। यह कार्य में अन्य रहा । कांच रोग के कारण अन्न खाना वैसे ही कठिन और निषिद्ध था परन्तु कह दिया कि हरिजनमन्दिर प्रवेश बिल के विरोध में अन्न-त्याग किया है यह उनकी सरलता का दूसरा रूप रहा।

पृष्ठ ५३ पर मुरार के भंगी के सम्बन्ध में जो आपने आशंका की है कि—"आप शास्त्र मन्दिर में ही बांचते होंगे ? और वह मन्दिर में ही आकर सुनता होगा ?" समझ नहीं पड़ता कभी समाचारपत्र आपने पढ़े भी हैं या यों ही सम्पादक बन बैठे ? यह है जैन समाज के बुद्धिमान, प्रसिद्ध जैन गजट सम्पादक की योग्यता और बुद्धिमानी ! अरे पं० जी महाराज ! वर्णीजी सेठ गणेशीलालजी के बगीचे में ठहरे थे वहीं शास्त्र बचता था। समाज को भड़काने के लिये इस तरह अटकलबाज़ी के आधार पर बात करना विद्वत्ता के विरुद्ध है।

पृष्ठ ५४ पर वही लाला महावीरप्रसादजी रतनलालजी देहली वालों के हाथ भेजे गये पत्र की चर्चा आपने की है। उसका उत्तर "प्रकाशकीय वक्तव्य का उत्तर" शीर्षक में लिखा जा चुका है। पत्र को पुनः पढ़कर ठीक अर्थ समझ लें तो यह बुद्धि का भ्रम दूर हो जाय।

भंगी के घर भोजन करने वाली बात को तो आपने ऐसा हथियार बना रखा है जिसे दिखाकर आप वर्णी जी को कई बार डराना चाहते हैं। परन्तु मैं तो स्पष्ट कह चुका हूँ कि यदि आपके घर भी आगम रीति से शुद्ध भोजन नहीं बनेगा, पड़गाहन आदि विधि न होगी तो वहां भी

भोजन करने से वैसे ही इंकार कर देंगे जैसे भंगी के घर इन विधियों की कमी होने से इकार कर देंगे।

"सत्वेषु मैत्री" की सामायिक करनेवाले आचार्यश्री से पूछो कि क्या सत्व में हरिजन शामिल नहीं हैं ! यदि हैं तो उनसे यह घोर घृणा कर आप किस सरलता का परिचय दे रहे हैं !

"धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं" पर किये गये पांचवें विवेचन का उत्तर—

"धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नहीं" इसके सम्बन्ध में पहिले आपने जो तर्क किये थे उन सबका उत्तर हम भी शास्त्रीय लौकिक प्रमाणों के द्वारा दे चुके हैं। वर्तमान सामाजिक स्थिति को इतना भयंकर बनाने के बाद भी पंडितजी ! पृष्ठ ४७ पर आप कह रहे हैं कि—"धर्म की व्यवस्था हमारी इच्छानुसार हो यह हम कभी नहीं चाहते। और न कभी इच्छा ही प्रगट की है।" आपका जैन गजट, जैन दर्शन और यह पुस्तक, जिसे लिखकर आपका अभिमान दिनोंदिन बढ़ा जा रहा है आपके इस सफेद झूठ के प्रमाण हैं। आपने इच्छा ही नहीं की यह तो हम भी मानते हैं पर डंका अवश्य पीटा है, समाज में अशांति की आग अवश्य जला दी है। धन्य है आपके इस कथन को कि— हमारा तो यह कहना है कि धर्म की जो व्यवस्था भगवान ने आगम में बतलाई है वही अक्षुण्ण बनी रहे, उसमें परिवर्तन किसी की ओर से न हो।" पंडितजी ! यह कैसे कह रहे हो ! जरा सोचिये तो सही ! यदि आपका यही कहना है तो आचार्यश्री से कहिये कि भगवान सर्वज्ञ की वाणी परम्परा के अनुसार प्रतिपादित धर्म व्यवस्था के प्ररूपक धवल सिद्धान्त जैसे पवित्र ग्रन्थ से 'संजद' पद काट-कर धर्म व्यवस्था को छिन्न-भिन्न न करें। इधर तो आप लिखते हैं कि—

"कुछ लोगों की स्वार्थ वासना के कारण पाप को धर्म का जामा नहीं पहिनाया जा सकता।..................कुछ लोगों की अनुचित प्रवृत्ति को चाटुकारिता के कारण धर्म कहना महान पाप है।" और उधर हरिजन मन्दिर प्रवेश निषेध जैसे पाप को धर्म का जामा पहिना रहे हैं, इतने पर भी अपने द्वारा धर्म की इच्छानुसार व्यवस्था करने के प्रमाण भी चाहते हैं। उत्सूत्रता के विरुद्ध लड़ाई लड़ने में यदि सचमुच आपने जीवन खपाया होता तो समाज के उन पतित पण्डितों और शठ सेठों का सुधार अवश्य किया होता जिनका परिचय आप स्वयं आगे दे आये हैं।

पूज्य वर्णीजी ने जैन धर्म धारण न करने पर अपनी मां और पत्नी तक को छोड़ दिया था, तब औरों द्वारा जैन धर्म धारण न करने पर हरिजनों को छोड़ना स्वाभाविक था। इसीलिये वर्णीजी उन्हें जैन बनाने के लिये जिनेन्द्र दर्शन करने और मद्य, माँस, मधु खाना आदि खोटी आदतें छुड़ाने की यह राष्ट्रीय प्रयत्न कर रहे हैं। "पारमार्थिक शब्द का तात्पर्य"—दूसरों के लिये उपयोग कर सकने की सुविधा देना होता है। इसलिये आप यह कैसे कह सकते हैं कि—'कैसे महान् पारमार्थिक निधियों के आलय में उन्हें प्रवेश करा दें?"

पृष्ठ ६० पर पशु पक्षी तक को सम्यक्त्व का पात्र स्वीकार कर रहे हो परन्तु हरिजन जो मानव है उसे सम्यक्त्व के कारण देव दर्शन की पात्रता के पास भी नहीं आने देना चाहते! कैसी विडम्बना है! आप मान रहे हैं कि— सम्यक्त्व से आत्मा की शुद्धि होती है, शरीर की नहीं।' तो मैं पूछ सकता हूं कि इस तरह आप—"स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रिते" शरीर स्वभाव से तो अपवित्र होता है परन्तु रत्नत्रय से पवित्र हो जाता है—स्वामी समन्तभद्र के इस आगम वाक्य को काटने की हिमाकत क्यों दिखा रहे हैं? आपने जो यह लिखा कि— अस्पृश्य शूद्र अणुव्रती हो सकता है किन्तु श्रावक प्रतिमा

भी धारण नहीं कर सकता।" इस सम्बन्ध में मैं यह कहना चाहता हूँ कि वेश्या पुत्री वसन्ततिलका भी तो ब्रह्मचर्य ग्रहण की, उसके भी गई बीती कही जाने योग्य थी। फिर वह कैसे आर्यिका के व्रत धारण कर सकी? आपका कहना गलत है? या चारुदत्त चरित्र का आगम वाक्य गलत है? या आपके द्वारा पहिले कहा गया धर्म का लक्षण— "आचारः प्रथमोधर्मः" ही गलत है?

पृष्ठ ६१ पर आपने लिखा है कि—"हरिजन नेताओं का कहना है कि हमें तो यह देखना है कि सोमनाथ की मूर्ति की तरह इन मूर्तियों के भीतर कितना जवाहरात और माल है?" पंडितजी! समाज को भड़काने के लिये ऐसी झूठी अफवाहों का आश्रय लेना महा-पाप है, आपकी पण्डिताई को कलंक है। यदि सत्य है तो आप यह अवश्य बतावें कि किस हरिजन नेता ने, कब, कहां किसके समक्ष ऐसा कहा? सप्रमाण ही लिखें।

दुःख है पंडितजी! आपने यह शंका कर तो देवदर्शन की महत्ता का महल ही ढह दिया है, कि—"क्या मन्दिर में जाने से ही पाप कम हो जावेंगे?" प्रतीत होता है आप इसलिये प्रतिदिन दर्शन करना भी आवश्यक नहीं समझते होंगे अन्यथा क्या बात थी जो आपको ऐसी अनिष्ट आशंका करते समय दर्शन स्तोत्र के यह श्लोक याद न आते कि—

दर्शनं देव देवस्य दर्शनं पाप नाशनम्।
दर्शनं स्वर्ग सोपानं दर्शनं मोक्ष साधनम्॥

देवाधिदेव भगवान् का दर्शन पाप नाश करने वाला है, स्वर्ग का सोपान और मोक्ष का साधन है।

दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनांवन्दनेनच।
न चिरंतिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम्॥

जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन से, साधुओं की वन्दना से पाप उसी तरह शीघ्र नष्ट हो जाते हैं जिस तरह अंजुलि में लिया गया पानी शीघ्र ही गिर जाता है। परिणामों की विशुद्धि में सदाचार पालना, पंच पाप त्यागना, अभक्ष्य भक्षण छोडना आदि को तो आपने कारण बताया पर देव दर्शन को विशुद्ध परिणामों की रक्षामात्र का कारण कह दिया, जैसे उसका कोई महत्व ही न हो। कितने दुःख की बात है कि आप जैसे पंडित अपना हठवाद सिद्ध करने के लिये देव दर्शन की महत्ता के महल को ढहकर खण्डहर बना देने के लिये अपनी कुतर्क कुदाड़ी का प्रयोग करते हैं।

पृष्ठ ६५ पर—"सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपिमातङ्ग देहजम्' आदि श्लोक का आपने जो मनमाना अर्थ किया है—उसका सही अर्थ हम आपके ही पक्ष समर्थक, प्रसिद्ध टीकाकार परीक्षक एवं आचार्यश्री के परम भक्त एक विद्वान के शब्दों में प्रगट करते हैं। देखिये रत्नकरण्ड श्रावकाचार चिजयाटीका चतुर्थ संस्करण पृष्ठ ३६, लिखा है—

'सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपिमातग देहजम्।
देवादेव विदुर्भस्म—गूढांगारान्त रौजसम्॥"

अन्वयार्थ—(देवा) जिनेन्द्र देव (सम्यग्दर्शन सम्पन्नम्) सम्यग्दर्शन सहित (मातङ्ग देहजम्) भंगी को (अपि) भी (भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्) राख के भीतर ढके हुए अंगार के भीतर प्रकाश के समान (देवम्) पूज्य (विदुः) कहते हैं।
पंडितजी ने भावार्थ लिखा है—

"जैसे जिसके ऊपर राख आगई है ऐसा अङ्गार ऊपर से तो राख सरीखा दिखता है किन्तु उसके भीतर जाज्वल्यमान अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार सम्यक्त्वी चाण्डाल भले ही जाति से चाण्डाल है किन्तु उसके अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन की ज्योति छिपी रहती है इसलिये वह देव से भी श्रेष्ठ होता है। इससे निश्चित होता है

कि पूज्यता में उत्तम कुल आदि ही कारण नहीं इसलिये उनका गर्व करना वृथा है।"

पृष्ठ ६५ तक आपने "चरणानुयोग के आधार पर अस्पृश्य शूद्रों में धर्म धारण करने की कितनी योग्यता है?" यह विषय बिलकुल अस्पष्ट रक्खा है। रजोवीर्य की अशुद्धि के मनगढ़न्त कारण की पुनरावृत्ति के सिवा उसे कभी व्रती होने की बात भी कही तो अणुव्रती होने तक ही छोड़ बैठे।

विवाद के अन्त के लिये आपने वर्णीजी को पृष्ठ ६६ पर जो सम्मति दी है वह प्रशस्य तभी कही जावेगी जब वस्तुतः आचार्यश्री और आप लोगों का यह मनसा आन्तरिक हो, साफ हृदय से हो। वस्तुतः वह दिन बड़ा ही शुभ होगा जब आचार्यश्री और वर्णीजी के सम्मेलन में लोग हरिजन-हितैषी राष्ट्र-उद्धारक भावना का सक्रिय रूप देखेंगे, परन्तु आचार्यश्री जब तक आप जैसों के हाथ की कठपुतली रहेंगे यह पवित्र कार्य होने का नहीं।

"बन्दर घुड़की से काम न चलेगा" पर किये गये

छठवें विवेचन का उत्तर—

पृष्ठ ७१ पर आपने लिखा कि—"पीछी कमण्डलु छीनने की आपको तो खाली धमकी ही दी गई है।" धमकी न होकर सत्य षड्यन्त्र भी होता तो भी वर्णीजी डरने वालों में से नहीं हैं। आगे आपने लिखा है कि—"पार्टी का बल है सो चाहे कोई भी कितना ही नंगा नाच करें परन्तु कोई किसी को कहने वाला नहीं और न कोई किसी का कुछ भी बिगाड़ सकता है।" पण्डितजी यदि यही कारण आप लोगों को उछल कूद करा रहा है तो स्मरण रखिये वर्णीजी की ऐसी

अपनी पार्टी भले ही न हो परन्तु उनकी कमाई में वह बल है कि आपको यह नाच बन्द करना ही पड़ेगा।

पृष्ठ ७१ पर आपने लिखा कि—"आगम शून्य हृदय की बात की कोई कीमत नहीं।" पण्डितजी! मैं मानता हूं कि आगम ज्ञान विशिष्ट आत्मा विशेष प्रभावक होता है परन्तु जिसने आगम न पढ़ा हो उस भोले निर्मल हृदय की बात की कोई भी कीमत न हो ऐसा मानना तो दुराग्रह ही है—क्योंकि सर्वत्र आगम ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती, राजनीति लोक व्यवहार ही अपेक्षित होते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि आगमज्ञ बैठे रहे और निर्मल हृदय वाले काम में सफल ही हुए। आगमज्ञ पण्डित और सेठ बैठे रहे, चांदनपुर महावीर ग्वाले के हाथ से निकले! पद्मपुरी के पद्मप्रभु मूला जाट के हाथ से निकले!! बताइये आप जैसे आगमज्ञों से यह आगम शून्य अच्छे हैं या नहीं!

पृष्ठ ७४ पर आपने लिखा है कि—"हरिजन पांच पाप छोड़ देवें, वीतराग आत्मा को पूज्य मानें, अरहन्त स्मरण करें तो बड़ी सुन्दर बात है, इसके लिये उन्हें रोकता भी कौन है?" पण्डितजी! यहां तो आप कुछ सुधरे मालूम देते हैं। आपके इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि आप हरिजन मन्दिर प्रवेश समर्थक हैं। परन्तु जब आचार्यश्री की याद आई तब फिर कहने लगते हैं कि—"परन्तु यह क्या कि वे अर्हन्त स्मरण भी हमारे साथ ही मन्दिर में जाकर ही करें।" कुशल है पण्डितजी! कि इन शब्दों के साथ कम से कम उनका आगे पीछे मन्दिर जाना अब भी मान रहे हैं! पुराने संस्कारों के भूतावेश में आकर जो दूसरों के छूत का रोगी बनाते हैं परन्तु धर्मामृतौषधि का बोतल उन अछूतों को नहीं देते उनसे अधम और किसे कहा जाय!

पृष्ठ ७६ पर वेश्यागृहों, सिनेमागृहों, नाट्यशालाओं और शृंगार शालाओं का प्रभाव तो आपने पूज्य पुरुषों पर तक माना परन्तु निर्मल हृदय से स्मरण करने वाले के हृदय पर भगवज्जिनेन्द्र के दर्शन का दिव्य

प्रभाव आपने क्यों स्वीकार नहीं किया ? पृष्ठ ७७ पर आपने लिखा है कि— **"जो भी अस्पृश्य हैं वे सब अपने पूर्वोपार्जित एवं वर्तमान कर्मों से हैं।"** तो क्या पण्डितजी ! उनके पूर्वोपार्जित कर्म क्या ऐसे हैं जिनकी कभी निर्जरा न हो सके ? क्या उनके वर्तमान आजीविका साधन ऐसे नहीं हैं जिन्हें छोड़कर वे और कोई कर्म कर सकें ? जब कुछ भले लोग शूद्रों का कार्य कर सकते हैं तब भले आदमियों का कर्म करने से शूद्रों को कौन रोक सकता है ?

"बनना बिगड़ना तो भाग्य और कर्मों के आधीन है" यह कहकर तो पण्डितजी ! आपने पुरुषार्थ को समाप्त ही कर दिया। जिस जैन धर्म में कर्म जैसे भयङ्कर शत्रुओं के ऊपर भी पुरुषार्थ से विजय पाई जा सकती है उसमें भाग्य और कर्मों की ही प्रधानता मानकर पुरुषार्थ न मानकर आप मुक्ति महल के द्वार पर बड़ा भारी शिलाखण्ड रख रहे हैं।

पृष्ठ ७७ पर ऊपर लिखा है कि **"(अस्पताल की दवा) गट गट पीने वालों की बात बतलाई, न पीने वालों का उदाहरण क्यों नहीं दिया ?"** पं० जी महाराज ! जब आप जैसे ही पण्डित लोग भी पी लेते हैं तब और उदाहरण किसका है ? जो नहीं पीते वे भी भले ही गले के रास्ते से दवा पेट में न पहुँचाते हों परन्तु इन्जेक्शन से वही औषधि नस नस में भर लेते हैं।

पृष्ठ ७८ पर आपने लिखा है कि **"आपकी (वर्णीजी की) सरलता से ही चंद लोग बेजा फायदा उठाते हैं।"** पं० जी ! हो सकता है आपका कहना किसी अंश तक सही हो परन्तु वैसा नहीं जैसा आचार्यश्री की सरलता से आप जैसे चंद लोग बेजा फायदा उठा लेते हैं।

पृष्ठ ८० पर आपने वर्णी जी से पूछा है कि **यदि मयूर पिच्छिका छीन ली गई तो आप कोमल वस्त्र पिच्छिका रखकर श्वेताम्बर तो नहीं हो जावेंगे ?** पं० जी ! इस कुतर्क पूर्ण आशङ्का का मैं उत्तर देना चाहता हूँ कि आपकी आशङ्का व्यर्थ है। पिच्छिका के अभाव में कोमल

वस्त्र रखने मात्र से यदि कोई दिगम्बर से श्वेताम्बर होने लगे तो जीव संरक्षण के लिये वस्त्र से भूमि शोधन करने वाले आप सब श्वेताम्बर हो जावेंगे ! पं० जी दिगम्बर और श्वेताम्बर बनने के कुछ नियम पालना आवश्यक हैं न कि मयूरपिच्छिका और कोमलवस्त्र का उपयोग एवं काष्ठपात्र रखना मात्र ! दुःख यह है कि जिस दिगम्बर-श्वेताम्बर के बीच खुदी खाई को पूरने का प्रयत्न किया जा रहा है उसे आप और खोदे जा रहे हैं।

प्रायश्चित एक तप है यह तो वर्णीजी भी जानते हैं परन्तु जिस अर्थ में जिस भाव से उसका प्रयोग किया गया था उसका उत्तर भी यही था। हम साधारण लोग जब कभी कोई भूल करते हैं और उसके लिये प्रायश्चित भी लेते हैं तब उसका यह अर्थ नहीं होता कि भूल करने के बाद हम साधारण विद्यार्थी या गृहस्थ पहला अन्तरङ्ग तप प्रायश्चित धारण कर रहे हैं, उसका यही अर्थ होता है कि अपनी भूल की शुद्धि हम कर रहे हैं। अन्यथा गलती करने पर प्रायश्चित विधान से हम लोग तो बिना किसी कष्ट कठिनता के अन्तरङ्ग तप के पालक बन जावेंगे। और जब इस अर्थ में प्रायश्चित लेने का कभी अवसर वर्णीजी को आवेगा तो वे उन भगवान की मूर्ति के समक्ष प्रायश्चित भी ले सकते हैं जिसके समक्ष क्षुल्लक दीक्षा ली थी। आचार्य भी से प्रायश्चित लेने की आवश्यकता तब थी जब उनसे दीक्षा ली होती।

पृष्ठ ८१ पर आपने वर्णीजी के शब्दों से जो ध्वनि समझी है कि **पूज्यपाद आचार्य महाराज का साधुत्व जो है वह सब नाटकीय स्वांग और आडम्बर है"** उसके सम्बन्ध में पं० जी ! यही कहना है कि वह तो आपके "जिसके मनहिं भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी" के मनोविज्ञान का प्रबल प्रभाव ही है। वर्णीजी ने जिस दृष्टि से नहीं लिखा उसकी ध्वनि आपने समझी, यह कुछ विशेष तात्पर्य अवश्य रखता है।

मेरी दृष्टि में तो जैसे आचार्यश्री वैसे ही वर्णीजी। दोनों ही पूज्य हैं, सिरसा वन्दनीय हैं। धर्म, आगम, राष्ट्रसमाज, या लोक के विरुद्ध जो कोई भी आवेगा उससे समझकर बोलने के लिये अवश्य निवेदन किया जायगा जैसा मैंने आचार्य श्री से यह निवेदन किया।

आचार्य महाराज! मेरा कोई विचार यह पुस्तक लिखने का न था परन्तु आपके भक्त पण्डित श्रीइन्द्रलाल जी शास्त्री ने अपनी उद्दण्ड लेखनी से मुझे भी जैसे का तैसा बनने के लिये बाध्य किया अतः वस्तुतः आपके प्रति मेरा कोई विद्वेष नहीं, आपके हृदय में बैठाये गये विद्रोही विचारों मात्र से ही विद्वेष है आशा है आप इधर ध्यान देकर आगे के लिये अपने भक्तो की उद्दण्डता का ताण्डव बन्द करावेंगे।

वर्णीजी के महत्त्वपूर्ण पत्र के सम्बन्ध में—

पं० मक्खनलालजी शास्त्री एवं पं० इन्द्रलालजी शास्त्री ने अपने ट्रैक्टों में पूज्य वर्णीजी द्वारा आचार्यश्री को भेजा गया जो पत्र प्रकाशित किया है उसका भी जो वास्तविक अर्थ है उसे पुस्तक के प्रकाशकीय वक्तव्य में स्पष्ट किया जा चुका है। परन्तु बाद में पता लगा कि वर्णीजी के उस पत्र में कुछ परिवर्तन संशोधन कर उसे दूसरा अर्थ निकालने का प्रयत्न किया गया था। इसका पता जब हमें लगा तो हमने उक्त दोनों महानुभावों को अनेक पत्र दिये परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला फलतः हमने ताः २२ दिसम्बर को रजिस्टर्ड पत्र द्वारा दोनों महानुभावों से स्पष्टीकरण मांगा। पं० इन्द्रलालजी ने अपने ता:।२८ दिसम्बर के पत्र में स्वीकार कर लिया कि—"वे पत्र मैंने जैन मित्र, जन सदेश, जैन दर्शन आदि पत्रों से ही उद्धृत किये हैं।" इसका तात्पर्य यह कि आपने वह पत्र स्वयं नहीं देखा अपितु ऐसे पत्र को उद्धृत कर अपनी बुद्धि बताई है जिसका खण्डन एक बार श्री सुमेरचन्दजी भगत ने करते हुए पत्र का ब्लाक बनवाकर प्रकाशित कराने की मांग की थी।

पं० मक्खनलालजी को दी गई अवधि के सात दिन बाद भी हमें कोई उत्तर नहीं मिला इसलिये हम पंडितजी को दिये गये रजिस्टर्ड पत्र की अन्तिम पंक्तियों को यहां दुहराये देते हैं—

"ता० ३० दिसम्बर १९५० तक आपका कोई भी उत्तर न मिलने पर हम ऐसा समझेंगे कि वर्णीजी के नाम पर सचमुच वह पत्र आपने (संशोधन परिवर्तन कर) जाली तयार किया है।"

समाज देखे कि आचार्य भक्त, धर्मवीर उपाधिधारी पं० मक्खनलालजी जैसे व्यक्ति समाज को कैसे आदर्श हैं! इनकी जैन धर्म की श्रद्धा और आचार्य श्री की शिष्यता की दुहाई! आज तक पत्र का उत्तर न आना ही इस बात का प्रमाण है कि पूज्य वर्णीजी की ओर से आचार्यश्री के नाम वह पत्र मनगढ़त और जाली तैयार किया गया तथा इस धूर्त्तता के बूते पर दिन में तारे दिखलाने का प्रयत्न किया गया। बलिहारी।

धमकियों का मुझे कोई भय नहीं—

ट्रेक्ट छपने के पूर्व से ही मुझे अनेक पत्रों में अनेक धमकियां दी गई हैं परन्तु ऐसी धमकियों से कभी न डरा हूँ, न डरता हूँ! विवेकशील १-२ व्यक्ति ही मेरे साथ को पर्याप्त हैं, और वे सदा हमें अपने आप बिना किसी प्रयत्न के मिल ही जाते हैं। जिस समय मैंने "जैन परीक्षालय और उनकी रूपरेखायें" शीर्षक लेख लिखा, पण्डितों का आसन डोला, तब भी सेठ शान्तिप्रसाद जी डालमियांनगर के मंत्री बाबू श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम० ए० ने मुझे एक पत्र में लिखा कि—

प्रिय नरेन्द्रजी!

समाज में इसी तरह की कई संस्थाएँ हैं जो लीक पीट रही हैं। आंख कान बन्द किये कितने ही भलेमानस पुरातन भसा गाड़ी पर बैठे चल रहे हैं उनके सिर पर चाहे वायुयान मड़राये या बगल से रेलगाड़ी गुजरे!

"काश कि ये लोग कुछ देख सकते, कुछ सुन सकते।

"आप कन्धा पकड़कर इन्हें हिलाते रहिये। शायद निन्द्रा भंग हो जाय। आपने एक महत्वपूर्ण विषय की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया है। आपके विचारों से मैं सहमत हूँ। आने वाला युग आप लोगों का ही है।'

डालमियांनगर
१०-६-४७

आपका—
लक्ष्मीचन्द्र जैन

इसी तरह जब "वर्णीजी से खुला निवेदन" शीर्षक पर मेरे विरुद्ध बगावत हुई तभी बाबू बालचन्द्रजी मलैया बी० एस-सी० सागर ने लिखा था—

"भाई नरेन्द्र !

कार्य के उपलक्ष्य में हमें उसमें आहुति देनी होती है, तभी कार्य सफल हो सकता है। हमारे धर्म के उच्च आदर्श हैं पर वे एक अकर्मण्य समाज के हाथ में हैं, निठल्ली व मन-वचन-काय से गिरी हुई समाज के हाथ में हैं। आत्मबल तो इसीलिये है ही नहीं। फिर बड़े कार्य करने की क्षमता कहा से हो ! आपको मैंने इन बातों का लक्ष्य केवल इसीलिये किया है कि अगर आपको समाज का कल्याण करना है तो अपने को उसपर आहुति देना होगा।

अबुद्धि और अविवेक का विष स्वार्थता के सहयोग से इतना बढ़ गया है कि आपके व किसी के, उसके विपरीत वचन एक केवल जलते हुए लाल लोहे के तवे पर पानी के बूंद जैसे हैं। आप कभी निराश न होवें।

आप सच समझें आपको उस जलते हुए तवे को शान्त करना है जिस पर पानी के कुछ बूंद तो वैसे ही उछल जल जाते हैं। कार्य इससे बड़ी गम्भीरता से करिये कारण इसमें बड़े बड़े रोड़े आएँगे जिनका मुख्य कारण यही है कि अज्ञानी, पर पैसेवाला समाज पण्डितों की प्रशंसा में इतना लट्टू है कि न समाज सुधरी, न पण्डित—जो कि उस पर निर्भर है—उसे सुधार सके।"

सागर
८–६–४७

आपका—
बालचन्द्र मलैया

इन दोनों पत्रों को उद्धृत करने का उद्देश्य यह है कि समाज की संस्थाओं में मैंने कुछ सीखा है तब उसकी सेवा के लिये मेरा कर्त्तव्य है कि सोने वालों को कन्धा पकड़कर जगाता रहूँ, आवश्यकता पड़े तो समाज की भलाई के लिए अपनी आहुति देने को तैयार रहूँ।

आशा है समाज के व्यक्ति इस ओर ध्यान देकर ऐसे भूले भटकों को सुमार्ग पर चलने को कहेंगे।

॥ इति शुभम् ॥